

ॐ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गी जयतः ॐ

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

धर्मः स्तुष्टिः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः

नोपादेयं यदि रतिं श्रमं पुत्रं हि केवलम् ॥



अहेतुक्यप्रतिहता यथात्मासुपसीदति ॥

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक । तब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
भक्ति अधोक्षज की अहेतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥ किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो, श्रम व्यर्थ सभी, केवल बन्धनकर ॥

वर्ष ३

गौरान्द ४७२, मास—त्रिविक्रम ११, वार—अनिरुद्ध
बुधवार, ३१ वैशाख, सम्बन् २०१५, १४ मई १९५८

संख्या १२

श्रीश्रीनृसिंहदेवस्य लीला-सारः

अथाचार्य-सुतस्तेषां बुद्धिमेकान्त-संस्थिताम् ।

आलक्ष्य भीतस्त्वरितो राज्ञ आधेदयद्यथा ॥२॥

कोपावेश चलद्गात्रः पुत्रं हन्तुं मनो दधे ।

क्षिप्त्वा पश्यया वाचा प्रह्लादमतदर्हणम् ॥३॥

क्रुद्धस्य यस्य कम्पन्ते श्रयो लोकाः सहेरवराः ।

तस्य मेऽभीतवन्मूढ शासनं किञ्चलोऽप्यगाः ॥६॥

न केवलं मे भवत्यथ राजन्, स वै चलं बजिनां च परेषाम् ।

परेऽवरेऽमी स्थिर-जङ्गमा ये, ब्रह्मादयो येन वशं प्रणीताः ॥७॥

यस्त्वया मन्दभाग्योऽस्तो मदभ्यो जगदीश्वरः ।

कासौ यदि स सर्वत्र कस्मात् रतम्भे न हरयते ॥१२॥

एवं दुरुत्तैसुं हुरदंयन् रुषा, सुतं महाभागवतं महासुरः ।

खड्गं प्रगृह्णीत्यतितो वरासनात्, स्तंभं ततादातिवलाः स्वमुष्टिना ॥१५॥

स सख्यमेनं परितो विपश्यन्, स्तम्भस्य मध्यादनुनिर्जिहानम् ।
 नायं मृगो नापि नरो विचित्रमहो किमेतन्मृगमृग-रूपम् ॥१८॥
 प्रायेण मेऽयं हरिणोरुमायिना, बधः स्मृतोऽनेन समुद्यतेन किम् ।
 एवं प्रवृत्स्वम्भपतद्गदायुधो, नन्दन्वृषिर्हं प्रति दैत्यकुञ्जरः ॥२३॥
 विष्वक् स्फुरन्तं ग्रहणातुरं हरिर्व्यालो यथास्व कुलिशालत-त्वचम् ।
 द्वायुंरुमापत्य ददार लीलया, नसैर्यथाहिं गरुडो महाविषम् ॥२४॥

—श्रीमद्भागवत ७म स्कन्ध, ८म अध्याय

एवं सुरादयः सर्वे ब्रह्म-रुद्र-पुरःसराः । नार्तुमशकन्मन्यु-संरंभं सुदुरासदम् ॥१॥
 साक्षात् श्रीः प्रेषिता देवैर्दृष्ट्वा तं महद्भुक्तम् । अट्टाभ्रुतपूर्वत्वात् सा नोपेयाय शंकिता ॥२॥
 प्रह्लादं प्रेषयामास ब्रह्मावस्थितमन्तिके । तात प्रशमयोपेहि स्वपित्रे कुपितं प्रभुम् ॥३॥
 तथेति शनकै राजन् महाभागवतोऽर्भकः । उपेत्य भुवि कायेन ननाम विधृताञ्जलिः ॥४॥
 स्वपादमूले पतितं तमर्भकं, विलोक्य देवः कृपया परिप्लुतः ।
 उत्थाप्य तच्छीघ्रयद्वात् कराम्बुजं, कालाहि विश्रस्तभियां कृताभयम् ॥५॥
 स तत्-करस्पर्श-धुताखिलाशुभः, सपद्यभिव्यक्त-परात्मदर्शनः ।
 तत्पादपद्मं हृदि निवृत्तो दधौ, हृत्पत्तनुः क्लिन्न-हृद्श्रुलोचनम् ॥६॥

—श्रीमद्भागवत ७म स्कन्ध, ९म अध्याय

फल-श्रुतिः

वैशाखस्य चतुर्दश्यां सौरिवारेऽनिलक्षणे ।
 आद्यावताराः सिंहस्य प्रदोष-समये द्विजाः ॥६३॥
 तस्यां सम्पूज्य विधिवत् नरसिंहं समाहितः ।
 जन्म-कोटि-सहस्रं स्तु पापराशिः सुसञ्चितः ॥६४॥
 दह्यते तत्कृणादेव तूलराशिरिवाग्निना ।
 दृष्ट्वा स्फुट्वा नमस्कृत्य प्रणिपत्य च भक्तितः ॥६५॥
 स्तुत्वा विमुच्यते पापैर्निर्मोकेण भुजङ्गवत् ॥६६॥

—स्कन्द पुराणान्तर्गत उत्कलखण्डम् १६ अध्याय

अनुवाद—

जब पण्डामर्कने देखा कि प्रह्लादके संसर्गसे सभी दैत्य बालकोंकी बुद्धि भगवान्में स्थिर हो रही है, तब वे बड़े घबराये और तुरन्त दैत्यराज हिरण्यकशिपु के पास जाकर सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥२॥

इस असह्य और अप्रिय संवादको सुनकर हिरण्यकशिपुका शरीर क्रोधके मारे काँपने लगा । अन्तमें उसने प्रह्लादको जानसे भार डालनेका निश्चय कर लिया । प्रह्लाद यद्यपि तिरस्कारके योग्य न थे, तथापि

हिरण्यकशिपु कठोर वाणियों द्वारा उनका तिरस्कार करते हुए कहने लगा ॥३॥

मुख्य ! मेरे तानकसा क्रोध करने पर लोकपाल सहित तीनों लोक काँप उठते हैं, फिर तू किसके बल पर इस प्रकार निर्भय होकर मेरी आज्ञाका उल्लंघन कर रहा है ॥६॥

प्रह्लादजीने कहा—राजन ! मैं जिस बलसे बली हूँ, वे केवल मेरे ही बल नहीं; बल्कि आपके और

संसारके समस्त ब्रह्मजानोंके बल भी केवल बड़ी हैं। ब्रह्मासे लेकर तिनके तक छोटे-बड़े, चर-अचर सबको भगवान् ने ही अपने बलसे बशमें कर रक्खा है ॥७॥

हिरण्यकशिपुने कहा—अभागे ! तूने मेरे मित्रा किसी दूसरेको जगन्नाथ स्वामी बतलाया है ?—यदि ऐसा है, तो देखूँ तेरा वह जगद्गेश्वर कहाँ है ? यदि वह सर्वेश्वर है, तो इस स्वम्भेमें क्यों नहीं दीख पड़ता ? ॥ १२ ॥

इस प्रकार वह महाबलवान् हिरण्यकशिपु परम भागवत प्रह्लाद को बार-बार कठोर वचनोंसे फटकारता रहा। अन्तमें क्रोधमें भरकर हाथमें खड्ग लेकर सिंहासनसे कूद पड़ा और बड़े जोरसे उस स्वम्भेके ऊपर एक घाँसा मारा ॥१४॥

स्वम्भेके भीतरमें निकले हुए उस अद्भुत प्राणीको अच्छी तरहसे देख कर वह सोचने लगा—अहो ! यह न तो मनुष्य है और न पशु ही, फिर यह नर-सिंहके रूपमें कौनसा अलौकिक प्राणी है ? ॥१८॥

निश्चय ही महामायावी भगवान् हरिने मुझे मार डालनेके लिये ऐसा ढंग रचा है। परन्तु इससे मेरा हों ही क्या सकता है—ऐसा कहते-कहते और बिकट गर्जन करता हुआ दैत्यराज हिरण्यकशिपु हाथमें गदा लेकर नृसिंह भगवान् पर दूट पड़ा ॥२३॥

परन्तु जिस प्रकार सर्प चूहेको पकड़ लेते हैं, उसी प्रकार नृसिंह भगवान् ने बड़े वेगसे उस हिरण्यकशिपुको—जिसके शरीर पर इन्द्रके साथ युद्धमें उनके बचा-घातसे खरोंच तक न आयी थी, जो बड़ी फुर्तिले पैसरे बदल तीव्र गतिसे आक्रमण कर रहा था—पकड़ लिया और उसे दरवाजे पर ले जाकर अपनी जाँघोंके ऊपर रख कर खेलमें ही अपने नखोंसे जैसे ही चीर डाला, जैसे गरुड़ महाविषधर सर्पको चीर डालते हैं ॥ २४ ॥

इस प्रकार क्रोधाविष्ट होनेके कारण अत्यन्त दुर्गम नृसिंह भगवान् के पास जानेमें ब्रह्मा और शिव आदि सभी देवता असमर्थ हुए ॥ १ ॥

तब ब्रह्माजीने पास ही खड़े प्रह्लादको भगवान् के निकट यह कह कर भेजा कि, वत्स ! अब तुम्हीं उनके पास जाओ और तुम्हारे पिताके प्रति क्रुद्ध हुए भगवान् नृसिंहदेवको शान्त करो ॥ ३ ॥

हे राजन् ! परम भागवत बालक प्रह्लाद 'जैसी आज्ञा' कहकर और धीरे-धीरे भगवान् के समीप जाकर हाथ जोड़ पृथ्वी पर गिर कर साष्टांग दण्डवत्-प्रणाम किये ॥ ४ ॥

नन्हेसे बालकको अपने चरणोंके पास पड़ा हुआ देख कर नृसिंह भगवान् का हृदय दयासे द्रवित हो उठा। उन्होंने उसे उठाकर उसके सिर पर काल-सर्पसे भयभीत पुत्रोंको अभयदान करनेवाला अपना कर-कमल रख दिया ॥ ५ ॥

भगवान् के कर-कमलोंके स्पर्शसे उनके सारे अशुभ-संस्कार दूर हो गये और तत्काल ही परमात्म-दर्शनसे उनका सारा शरीर पुलकित हो गया, हृदयमें प्रेमकी धारा प्रवाहित होने लगी, आनन्दके मारे आँखोंसे आँसू बहने लगा। उन्होंने परमानन्दमें मग्न होकर भगवान् के चरणकमलोंको हृदयमें धारण किया ॥ ६ ॥

फल-श्रुति

यह नृसिंहदेवका आद्यावतार वैशाख महीनेकी शुक्ल चतुर्दशी, शनिवारके दिन स्वाती नक्षत्रमें सायंकालमें हुआ था ॥६२॥

उस दिन एकाग्र और पवित्रचित्त होकर विधिपूर्वक नृसिंह भगवान् की पूजा करनेसे तत्काल सहस्र कोटि जन्मोंकी एकत्रित पाप-राशि ठीक जैसे ही नष्ट हो जाती है, जैसे आगसे रुईका ढेर जल कर जलभर में भस्म हो जाता है ॥ ६४ ॥

नृसिंहदेवको भक्तिपूर्ण दर्शन, स्पर्श, नमस्कार, प्रणाम और उनके स्त्रोतका पाठ करनेसे पाप-बन्धन जैसे ही छूट जाते हैं, जैसे साँपकी कंचुली छूट जाती है ॥ ६५ ॥

वैष्णव-स्मृति

भारतीय आर्य जिस विशेष शास्त्रके विधानोंके अनुसार अपनी व्यावहारिक क्रियाएँ सम्पन्न करते हैं, उसीको साधारणतः स्मृतिशास्त्र कहते हैं। सकाम कर्मांगण जिन विधानोंको धर्म मान कर पालन करते हैं, मुक्ति चाहनेवाला ज्ञानी--सम्प्रदाय उन विधनों को सकाम कर्मियोंकी तरह ग्रहण नहीं करता। ज्ञानी कर्म और कर्मफलको अनित्य और दुःखजनक जान कर कर्म-फल साधक विधनोंके प्रति उदासीन रहता है तथा वैराग्य-साधक विधानोंको ही पाप-पुण्य से अतीत व्यावहारिक विधान मानता है। इसलिये ये लोग व्यवहार कुशल कर्मियोंको अर्थी एवं अपने को परमार्थी बतलाते हैं। परन्तु कर्म और ज्ञानसे अतीत भक्तजन ज्ञानियोंमें भी फल भोगकी वासना लक्ष्यकर दोनोंको ही 'अर्थी' की संज्ञा देते हैं तथा वासनारहित शान्त वैष्णवोंको ही एकमात्र परमार्थी स्वीकार करते हैं। साधारण इन्द्रिय-सुखसे लेकर मुक्ति तक किसी भी प्राकृत फलके उद्देश्यसे किये गये समस्त प्रकारके अनुष्ठान प्राकृत चेष्टाके अधीन और स्वार्थमय होते हैं।

अर्थी और परमार्थी लोगोंके स्मृति-विधान एक नहीं हैं।

भगवद्भक्तकी निखिल चेष्टाएँ कृष्ण प्रीतिके उद्देश्यसे विहित होती हैं। किन्तु कर्मी और ज्ञानियोंकी इससे विपरीत अपने सुखके उद्देश्यसे साधित होती हैं। अर्थी और परमार्थी दोनोंके उद्देश्योंमें महान अन्तर होता है। अतएव ऐसा कहा जा सकता है कि अभक्त और भक्तोंके व्यावहारिक विधान भिन्न-भिन्न हैं। फलकी कामना करनेवाला कर्मी-ज्ञानी और कामनारहित भक्त—सबपर एक ही प्रकारका विधान थोपा नहीं जा सकता। अभक्तोंके विधान उनके निजी कल्याणके लिये होते हैं और भक्तोंके विधान कृष्ण-

सेवाके लिये होते हैं। एकका उद्देश्य है स्व-सुखका भोग और दूसरेका अप्राकृत कृष्ण-सेवा।

हारीत-स्मृति और भक्तिके अनुकूल पुराणोक्त विधान वैष्णवोंके ग्रहणीय हैं।

समस्त स्मृतियोंमें हारीत-स्मृति वैष्णवोंके लिये विशेष आदरणीय है। स्मार्त्त-समाज स्मृतियोंके सिवा पुराणोंमें उल्लिखित विधानोंका भी आदर करता है। वैष्णवजन भी स्मृतियों तथा पुराणोंके उन विधानों को-जो भक्तिके अनुकूल होते हैं—स्वीकार करते हैं। मध्यकालीन कुछ व्यावहारिक स्मार्त्त पण्डितोंने स्मार्त्त-समाजके लिये कतिपय स्मृति-निबन्ध लिखे हैं। तरकालीन वैष्णव आचार्योंने भी अपने सम्प्रदायके लिये विविध शास्त्रोंसे प्रमाण संग्रह कर वैष्णव जीवनोपयोगी विधानोंका संकलन किया है।

बंगालमें श्रीचैतन्य महाप्रभुके आदेशानुसार सनातन गोस्वामीने विशुद्ध शास्त्रोंका अवलम्बन करके 'हरिभक्तिविलास' नामक वैष्णव-स्मृति-ग्रन्थका संकलन किया, जिसे पीछेसे गोपालभट्ट गोस्वामीने संपादित किया है। इसके लगभग अर्द्ध शताब्दी बादमें बंगालमें ही श्रीरघुनन्दन भट्टाचार्यने स्मार्त्त समाजके प्राकृत व्यवहारोंके निर्वाहके लिये अष्टाविंशति-'तत्त्व' के नामसे कतिपय निबन्ध लिखे हैं। इस स्मृति ग्रन्थमें इन्होंने अनेक स्थलोंपर हरिभक्तिविलाससे अपना पृथक मन स्थापन करनेकी चेष्टा की है।

इन दोनों स्मृति-ग्रन्थोंके सिवा उस समय भारत के विभिन्न प्रदेशोंमें उन उन स्थानोंके लिये व्यवहारोपयोगी अनेक स्मृतिग्रन्थ लिखे गये हैं।

यहाँ ऐसा प्रश्न हो सकता है कि जब स्मृति-लेखकोंका मूल आधार एक है, तब उनके रचित स्मृति-ग्रन्थोंके विधान-सम्बन्धी सिद्धान्तोंमें इनका अन्तर क्यों दीख पड़ता है? उत्तर है, वैष्णव स्मृतिकार

भगवद्भक्त थे और कर्मफलवादी स्मृति-लेखक नितांत भोग परायण थे। कर्म-फलवादी स्मार्त्तोंको भगवान्की उपासनामें न तो नित्य रुचि होती है और न विश्वास ही। अतः उनके द्वारा निर्दिष्ट विधानोंमें निरपेक्ष विधानोंका उल्लेख असंभव है। यही कारण है कि दोनों प्रकारकी स्मृतियोंमें निर्दिष्ट विधानोंमें काफी मतभेद है।

स्मार्त्त-विधानोंका पालन करनेसे वैष्णव नहीं हुआ जाता।

हिन्दू-समाज व्यावहारिक स्मार्त्त-विधानोंका अनु-गत्य करनेके लिये बाध्य होने पर भी शुद्ध वैष्णव ऐसा करनेके लिये बाध्य नहीं है। कहीर पर गृहस्थ वैष्णवों के लिये स्मार्त्त विधानोंको अलुण्ण रखकर वैष्णव-स्मृतिका पालन असंभव सा प्रतीत होता है। किन्तु यह गृहस्थ वैष्णवकी दुर्बलताका ही परिचय है। जिस समय सत् शिक्षाके प्रभावसे वे अपने सत्शास्त्रोंकी तथा अपनी मर्यादा उपलब्धि करेंगे, उस समय वे

किसी भी अवस्थामें वैष्णव-स्मृतिका अनादर नहीं कर सकेंगे। परमार्थीजनको वैष्णव-स्मृतिके अनुसार अपने कृष्ण-संसारका निर्वाह करना उचित है।

यदि वैष्णव-समाज अपने आचार्योंका ठीक ठीक अनुसरण करता हुआ जीवन-यात्राका निर्वाह करे, तो जगतमें कोई विशृंखलता फैलनेकी संभावना नहीं है। कभी कभी व्यावहारिक स्मार्त्त लोग विष्णुभक्ति के प्रति कटाक्ष कर अपनी मूढ़ताका परिचय देते हैं। उनका ऐसा व्यवहार उनकी संकीर्णताका ही चोतक है, न कि उदारताका। कालके प्रभावसे आजकल सर्वत्र ही परमार्थ-निष्ठाके प्रति शिथिलता दीख पड़ती है, फिर भी अप्राकृत विचार-सम्पन्न परम महान् वैष्णवोंके लिये परमार्थ विचाररहित स्मार्त्तोंका अनु-गत्य शोभा नहीं देता। वैष्णव स्मृतिका भलिभाँति अनुगमन करना ही उन्हें उचित है-हमारा यह विशेष अनुरोध है।

— वैष्णुपाद श्रीमद्भक्ति सिद्धान्त सरस्वती

साधु-वृत्ति

[पूर्व प्रकाशित वर्ष ३, संख्या ११, पृष्ठ २४७ के आगे]

गृहत्यागी वैष्णवोंका आचारण कैसा होना चाहिए इसके सम्बन्धमें श्रीमद्भगवत्प्रभुने रघुनाथ दासको जो उपदेश दिये हैं, वे प्रत्येक गृहत्यागी वैष्णवके लिये पालनीय हैं—

वैरागी करिबे सदा नाम संकीर्त्तन ।
मागिया खाइया करे जीवन रक्षण ॥
वैरागी हइया जेवा बरे परोपेक्षा ।
कार्य सिद्धि नहे, कृष्ण करेन उपेक्षा ॥
वैरागी हइया करे जिह्वार लालस ।
परमार्थ जाय, आर हय रसेर बश ॥
+ + +
शाक-पत्र-फल मूले उदर भरण ।
जिह्वार लालसे येई इति-उति धाय ।

शिश्नोदर-परायण कृष्ण नाहि पाय ।
माय्य कथा ना शुनिबे, माय्य वार्त्ता ना कहिबे ॥
भाल ना खाईबे, धार भाल ना परिबे ।
अमानी मानइ हइया कृष्णनाम सदा लबे ॥
बजे राधाकृष्ण-सेवा मानसे करिबे ।

(श्रीचैतन्यचरितामृत)

— गृहत्यागी साधुको निरन्तर कृष्णनाम करना चाहिए। भिक्षा-वृत्ति द्वारा जीविका निर्वाह करनी चाहिए। उन्हें स्वावलम्बी होना आवश्यक है। बिना स्वावलम्बी हुए कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता। परा-वलम्बियोंकी कृष्ण भी उपेक्षा करते हैं। जिह्वा-लिप्सासे बचना चाहिये; क्योंकि इससे साधक स्वादके बश हो जाता है, जिससे भजन नष्ट हो जाता है।

अमृत, शाक-पात और फल-मूल द्वारा शरीर की रक्षा करते हुए निरन्तर कृष्ण नाम करना चाहिए। जो लोग ऐसा करनेके बदले जिज्ञासे के स्वारके लिये इधर-उधर दौड़ते-फिरते हैं, वे शिरनोदर-परायण व्यक्ति कृष्ण तो कभी भी प्राप्त नहीं हो सकते। गृहत्यागी वैष्णवको न तो ग्राम्य-कथा सुननी चाहिए और न स्वयं कहनी ही चाहिये। उन्हें न तो अच्छा खाना चाहिए और न अच्छा पहनना ही। उन्हें स्वयं अमानी होकर दूसरोंको मान देना और सब समय प्रेम-पूर्वक भगवानका नाम लेना चाहिए।

गृहत्यागी-संन्यासीको अपने ग्राममें घरवालों के साथ कभी भी वास नहीं करना चाहिये। विषयोंमें आसक्त पुरुषों और स्त्रियोंको दर्शन करना सर्वथा निषेध है। स्त्रियोंसे भूलकर भी वाचपीत अथवा किसी प्रकारका व्यवहार नहीं करना चाहिए। इस विषयमें श्रीमन्महाप्रभुजीका उद्देश है

प्रभु कहे,— वैरागी करे प्रकृति-संभाषण ।
देखिते ना पारों आनि ताहार वदन ॥
दुर्वार इन्द्रिय करे विषय ग्रहण ।
दारु-प्रकृति हरे मुनिरपि मन ॥
छुद्र जीव सब मकट-वैराग्य करिया ।
इन्द्रिय चराजा बुले 'प्रकृति' संभाषिया ॥
प्रभु कहे—'मोर वश नहे मोर मन ।
प्रकृति-संभाषी वैरागी ना करे स्पर्शन ॥
+ + + +
'आमित संन्यासी, आपने विरक्त करि मानि ।
दर्शन दरे, प्रकृतिर नाम यदि शुनि ॥
तबहि विकार पाय मोर तनु-मन ।
प्रकृति-दर्शने स्थिर हय कौन जन ? ॥

(श्री चैतन्यचरितामृत)

तारपर्यं यह कि विरक्त साधुओंको स्त्रियोंके साथ वात्सील्य आदि नहीं करना चाहिए। इन्द्रियोंकी बड़ी प्रवृत्त होती है। वे किसी न किसी बहाने विषयोंका सब समय भोग करना चाहती हैं। जब काठ और पत्थर आदिकी बत्ती हुई स्त्रीका रूप देख कर बड़े-बड़े अपि-मुनियोंका चित्त चंचल हो उठता है,

फिर सबसुखमें रमणो-मंषर्गका क्या प्रभाव होता है—यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं है। साधन, भजन-रहित अत्यन्त दीन-हीन जीव साधुका बाना पहन कर—मकट वैराग्य धारण कर रमणियोंके साथ वाचपीत करनेके बहाने अपनी इन्द्रियोंके द्वारा रूप-रस-गंध-शब्द-स्पर्श रूपा आदि विषयोंका भोग करनेमें व्यस्त रहने हैं। भगवाः त्री-दर्शनसे किसका चित्त-स्थिर रह सकता है ?

संन्यासीको विषयी लोगोंके घरपर श्रुत भिक्षा नहीं करनी चाहिए। इससे अन्वःकरण आविर्भूत हो जाता है। अशुद्ध अन्तःकरणसे श्रीकृष्णका कदापि भजन नहीं हो सकता है।

त्यागी-वैष्णवको मठ, आखाड़ा आदिका निर्माण करना उचित नहीं है। क्योंकि इससे पुनः गृह-व्यापार होने लगता है। उन्हें साधारण तौरसे गावद्धन शिलादिका पूजन करते-करते कृष्ण चिंतनमें निमग्न रहना ही वांछनीय है।

एक कुंजा जल, आर तुलसी-मंजरी ।
सात्विक-सेवा पई, शुद्धभावे करि ॥
दूई दिके दूई पत्र, मध्ये कोवल मंजरी ।
पई मत अष्ट मज्जरी दिखे श्रद्धा करि ॥

(वै० च०)

भक्तजन किसी विशेष अवस्थामें वैध-संन्यास ग्रहण कर सकते हैं। सबको ऐसा करना ही पड़ेगा-ऐसा कोई नियम नहीं है। ब्राह्मण कुलमें पैदा हुए वैष्णव घर-घर छोड़ते समय अपने आश्रमोचित वैध-संन्यास ग्रहण कर सकते हैं। परन्तु संन्यासके उस अंशको ग्रहण नहीं करेंगे, जो भक्तिके प्रतिकूल है।

वैष्णव-संन्यासी मायावादी वेश-भूषा धारण न करेंगे। सर्वदा असंसर्गसे बचेंगे। तैल आदि विलासके प्रभाव नोंका व्यवहार न करेंगे। उन्हें स्त्रियोंके नाच-गान से दूर रहना चाहिए।

स्त्री-संगीत और महाप्रभुजीका आर्द्रश

वात पुरीकी है। एक दिन महाप्रभुजी यमेश्वर टोटाको जा रहे थे। रास्तेके बगलमें कुछ ही दूर पर

एक देवदामी कन्या महाकवि जयदेवके अमर काव्य गीत गोविन्दका एक ललित पद बड़े ही मधुर कंठसे गाती हुई जा रही थी। पदमें श्रीकृष्णके रूपका बड़ा ही मरम और मधुर वर्णन था, निम पर भी कोकिलकुजित उमका कंठ स्वर। महाप्रभु उस संगीतको सुनकर प्रेममें विह्वल हो गये। स्त्री या पुरुष कौन गारहा है—इसे वे एकदम भूल गये। वे अप्रकृत भावावेशमें मत्त होकर अपने कानोंमें सुधा बरसानेवालेको अलिंगन करनेके लिये बड़े वेगसे भागे। उन्हें पथ-व्यथका बिलकुल ही ध्यान न रहा। वे एक साँसमें अपने लक्ष्यकी ओर सीधे दौड़े जा रहे थे। काँटीदार झाड़ियोंसे लीधकर सारा शरीर लहलुहान होगया, पैरोंमें काँटे चुभते जा रहे थे, फिर भी वे भागे जा रहे थे। साथमें गोविन्द थे। प्रभुको दौड़ते देखकर वे भी उनके पीछे-पीछे भागे। बड़े कष्टसे देवदासीके पास पहुँचनेके पड़ने ही उन्होंने महाप्रभुको पकड़ लिया और कहा—‘प्रभो’! स्त्री गा रही है। आप वहाँ जा रहे हैं?’ ‘स्त्री’-शब्द सुनते ही महाप्रभुको बाह्य-स्मृति हो आयी। वे वहींसे लौट पड़े और बड़े ही करुण स्वरमें अधीरताके साथ कहने लगे—‘गोविन्द! तुमने आज मेरी खूब रक्षाकी यदि भूलसे भी स्त्रीका स्पर्श हो गया होता, तो मेरे प्राण अक्षय ही इस शरीरमें नहीं रहते। मैं इस उपकार के लिये तुम्हारा चिर-ऋणी रहूँगा।

तात्पर्य यह कि विरक्त-वैष्णवको स्त्री-संसर्गसे सर्वथा दूर रहना चाहिए।

गृहत्यागी वैष्णवका शयन और अहार

अंतलीलाके दिनोंमें श्रीमहाप्रभुजी दिन-रात माधुर विरहमें कातर वियोगिनी भीमतीराधिकाजीके भावमें विभोर रहा करते थे। उनका वैराग्य अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया था। खाने-पीनेकी बिलकुल ही सुध नहीं रहती। नेत्रोंसे दिन-रात आँसुओंकी धाराएँ बहती रहती। फूलसे भी कोमल शरीर सूखकर काँटा जैसा हो गया था।

उनके उस अतिशय क्षीण शरीरको रुखे-सुखे केले के पत्तोंपर पड़ा हुआ देखकर भक्तोंको अपार दुःख होता। किन्तु उनसे कुछ कहे तो कौन कहे?

जगदानन्दजी महाप्रभुके प्रेमी भक्तोंमें से थे। उन्हें महाप्रभुका ऐसा कठोर वैराग्य देखा कर बड़ा दुःख होता। आखीर एक दिन वे बाजारसे एक सुन्दर सा कपड़ा खरीद लाये और उसे गेरुए रंग में रंगकर उससे एक तोपक और एक तकिया तैयार करवाये। फिर उसमें रुई डालकर उनको गोविन्द के हाथोंमें देकर बोले—‘भाई! इन्हें महाप्रभुको बिछा देना।’ गोविन्दने डरते डरते बिछा तो दिये, परन्तु महाप्रभुने ज्योंही तोशक और तकिया को देखा, गोविन्दसे तुरंत ही फेंक देनेके लिये कहा। पुनः कुछ रंज होकर स्वरूप दामोदरसे कहा—‘तुम सब लोग मिलकर मेरा धर्म नष्ट करने पर तुले हुए हो। जगदानन्द तो यह चाहता है कि मैं संन्यासी होकर भी विषयोको भोगता रहूँ। आज तोपक-तकिया चाहिए, कल पलंगकी आवश्यकता होगी। परसो एक पैर दबाने और तेल मालिश करनेवाला चाहिए। एक गृहत्यागी संन्यासीको यह सब शोभा नहीं देता। उसे तो शरीर धारणके लिये कुछ रुखा-सुखा भोजन चाहिए। जोनेके लिये भूमि यथेष्ट है। तुमलोगोंको ऐसा कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए जिससे मेरा संन्यास-धर्म नष्ट हो।’ ऐसा सुनकर सब लोग मौन हो गये।

किन्तु जगदानन्दको चैन कहाँ? उन्होंने स्वरूप दामोदरसे परामर्शकर दूसरे ही दिन कुछ सुखे हुए केलेके पत्तोंको बटोर लाया और उन्हें नाखूनसे चिर-चिर कर चारीक बनाया। फिर उन्हें महाप्रभुजीके वहिर्वासमें भरकर एक पतलीसी तोशक और एक छोटसी तकिया तैयार की। बहुत कहने-सुननेपर महाप्रभुने उन्हें व्यवहारमें लाना स्वीकार किया।

इस प्रकार महाप्रभुका प्रत्येक आचार गृहत्यागी वैष्णवोंके लिये आदर्श है। (कमशाः)

—ॐ विष्णुपाद श्रीभक्तविविनोद ठाकुर

अचिन्त्यभेदाभेद

पंचम-सिद्धान्त

[पूर्व-प्रकाशित वर्ष ३, संख्या ६, पृष्ठ २०६ से आगे]

गौड़ीय-वैष्णवोंको मध्व-सम्प्रदायके अन्तर्गत माननेका कारण

अब हम 'अचिन्त्यभेदाभेदवाद' के पृष्ठ २४२ और २४३ में लिखित (घ) और (ङ) प्रसङ्गोंकी समालोचना करेंगे। इनमें (ङ) की समालोचनामें (घ) का प्रसङ्ग अपने-आप आ पड़ता है। अतः उपर्युक्त दोनों प्रसङ्गोंकी समालोचना एक ही साथ की जा रही है।

श्रीजीव गोस्वामीने तत्त्व-सन्दर्भमें स्थान स्थान पर आपने मध्वानुगत्यका उल्लेख किया है। यहाँ तक कि उन्होंने मध्व सम्प्रदायके विजयध्वज, ब्रह्मएतरीर्थ, व्यासतीर्थ आदि आचार्योंका भी आनुगत्य स्वीकार कर उनके रचित-ग्रन्थोंसे अनेक प्रमाण संग्रह करके षट्-सन्दर्भ ग्रन्थकी रचना की है। यद्यपि उन्होंने श्रीरामानुजाचार्य और श्रीधरस्वामीपादके वचनोंको भी अनेक स्थलोंमें उद्धार किया है, तथापि इन आचार्योंको श्रीगौड़ीय-सम्प्रदायका पूर्वाचार्य नहीं माना जा सकता। श्रीजीव गोस्वामीने अनेक क्षेत्रोंमें कविल पतञ्जलि आदि दार्शनिक ऋषियोंके वचनोंको भी भक्तिके अनुकूल होनेपर ग्रहण किया है; परन्तु इससे वे तत्तत् सम्प्रदायोंके अन्तर्गत नहीं माने जा सकते। भक्तिके अनुकूल होनेपर किसी भी शास्त्र, मतवाद या व्यक्तिके वचनोंको ग्रहण किया जा सकता है, परन्तु केवल इसी कारण प्रमाण प्रदीताको तत्तत् सम्प्रदायके अन्तर्भूक्त मानना नितांत हास्यास्पद है। 'किन्तु जहाँ शिष्य-प्रशिष्य सचका मत लेकर सिद्धान्त स्थापन किया जाता है, केवल उसी स्थलपर सिद्धान्त-

स्थापकको तत्तत् सम्प्रदायके अन्तर्गत मानना होगा। अन्यत्र नहीं ऐसा निःसंकोच पूर्वक कहा जा सकता है।

श्रील जीव गोस्वामीने तत्त्वसंदर्भमें मध्वाचार्य के वचनोंको तो प्रमाणके रूपमें ग्रहण किया ही है, अधिकन्तु उनके शिष्य-प्रशिष्य आदि अनेक साम्प्रदायिक आचार्योंके नामोल्लेखके साथ-साथ उनके प्रमाण-वचनोंको संग्रहपूर्वक तत्त्वसन्दर्भ आदि ग्रन्थों में भागवतका तात्पर्य अर्थात् गौड़ीय-वैष्णव-सिद्धान्त स्थापन किया है। प्रसङ्गवश नीचे श्रीजीव गोस्वामीपाद द्वारा लिखित कुछ अंश उद्धृत किया जा रहा है—

“अत्र च स्व-दर्शितार्थविशेष-प्रामाण्यायैव । न तु श्रीमद्भागवत-वाक्यप्रामाण्याय प्रामाणानि श्रुति-पुराणादि वचनानि यथाहृष्टमेवोदाहरणीयानि । क्वचित् स्व-यमहृष्टवराणि च 'तत्त्ववादगुरुणामाधुनिकानां श्री-मच्छङ्कराचार्य-शिष्यतां लब्ध्वाऽपि श्रीभगवत्पक्षगतेन, ततो विच्छिद्य, प्रचुर-प्रचारित वैष्णवमत-विशेषाणां दक्षिणादि-देशविस्थान-शिष्योपशिष्यभुत'— 'विजयध्वज'-'जयतीर्थ'-'ब्रह्मतीर्थ'-व्यासतीर्थीदि-वेद-वेदार्थ विद्वद्गणानां 'श्रीमध्वाचार्यचरणानां' भागवत तात्पर्य-भारततात्पर्य-ब्रह्मसूत्र-भाष्यादिभ्यः संगृहीतानि । तैश्चैवमुक्तं भारत-तात्पर्ये—

‘शास्त्रान्तराणि संजानन् वेदान्तस्य प्रसादतः ।
देशे देशे तथा ग्रन्थान् दृष्ट्वा चैव पृथग् विधान् ॥
यथा स भगवान् व्यासः साक्षात्पारायणः प्रभुः ।
जगद् भारताद्येषु तथा वक्ष्ये तदीक्षया ॥ इति ।

तत्र तदुद्ध ता भ्रुतिश्चतुर्वेदशिखाया । पुराणञ्च
गारुडादीनां सम्प्रति सर्वत्रा-प्रचरद्रूपमंशादिकं; संहिता
च महासंहितादिका; तंत्रञ्च तंत्रभागवतं ब्रह्मतर्का-
दिकमिति । ज्ञेयम् ॥३॥

अर्थात्, मैं (जीवगोस्वामी) षट्-सन्दर्भ ग्रन्थमें
अनेक प्रमाण-वचनोंको उद्धृत किया हूँ । इसका
कारण अपने प्रदर्शित अर्थ या मतकी प्रामाणिकता
स्थापन करना है—श्रीमद्भागवतके वचनोंकी या
सिद्धान्तोंकी प्रामाणिकता सिद्ध करनेके लिये नहीं ।
क्योंकि श्रीमद्भागवत वेदकी तरह स्वतः प्रमाण हैं ।
वे किसी दूसरे प्रमाणोंकी अपेक्षा नहीं रखते । भ्रुति-
स्मृति और पुराणदि मूल-ग्रन्थोंमें मैंने स्वयं जिन-
जिन प्रमाण-वचनोंको जिस रूपमें देखा है, ठीक
वसी रूपमें उन्हें इस ग्रन्थमें उद्धार किया है । इसके
अतिरिक्त मैं तत्त्व-सन्दर्भका लेखक (तत्त्ववादी)
कतिपय मूल-ग्रन्थोंको भ्रयं न देख करके भी (अपने
पूर्व-आचार्य) तत्त्ववाद्के गुरु-वर्गमेंसे (श्रीमाधवेन्द्र-
पुरी जैसे) उन आचार्योंके वाक्योंसे जो आधुनिक
श्रीशंकराचार्यका शिष्यत्व ग्रहण करके (शंकर-सम्प्रदाय
के आचार्योंके निकट संन्यास ग्रहण करके) भी अपने
भगवत् पक्षपातित्वके कारण शंकर मतवादसे सम्पूर्ण
पृथक् रहे हैं, और बहुल प्रचारित विविध वैशिष्ट्य
पूर्ण वैष्णव मतोंके आचार्य अर्थात् दक्षिणात्यके
प्रसिद्ध आनन्दतीर्थके शिष्य-प्रशिष्य रूप विजयध्वज,
ब्रह्मतीर्थ, व्यासतीर्थ आदि आचार्योंके सिद्धान्तसे
एवं वेद और वेदार्थके ज्ञाताओंमें सर्वश्रेष्ठ श्रीमन्-
मध्वाचार्य द्वारा रचित 'भागवत-तात्पर्य', 'भारत-
तात्पर्य' और 'ब्रह्मसूत्र-भाष्य आदि ग्रन्थोंसे प्रमाण
संग्रह किया हूँ ।

श्रीमन्मध्वाचार्यने स्वरचित 'भारत-तात्पर्य' में और
भी लिखा है—

'उपनिषद् आदि वेदान्तकी कृपासे दूसरे-दूसरे
शास्त्रोंका गूढ़ रहस्य ज्ञात होकर देश-देशमें विविध
ग्रन्थोंका विवेचन कर तथा साक्षात् नारायण-स्वरूप
श्रीकृष्णद्वैपायन वेद व्यास द्वारा रचित महाभारतादि
में वर्णित सिद्धान्तोंके प्रति दृष्टि रख कर मैं सिद्धान्त
स्थापन करूँगा ।'

मैं उक्त श्रीमन्मध्वाचार्य आदिके वचनोंका अनु-
सरण कर चतुर्वेद-शिखादि भ्रुति, पुराण एवं गुरु
आदिके वचनोंको, आजकल जिनके अंश-समूह सर्वत्र
प्रचारित नहीं हैं, संहिता और महासंहिता आदि
तंत्र, तंत्रभागवत, ब्रह्मतर्कादि अनेक ग्रन्थोंका मूल
स्वयं न देखकरके उनके द्वारा उद्धृत वचनोंसे ग्रहण
करके ही 'तत्त्वसन्दर्भ' की रचना कर रहा हूँ ।

श्रीजीव गोस्वामीके उक्त प्रमाणोंसे यह स्पष्ट
प्रमाणित होता है कि वे श्रीमन्मध्वाचार्यको ही श्रीगौ-
डीय सम्प्रदायका एकमात्र पूर्वाचार्य स्वीकार किये हैं ।
श्रीरामानुजाचार्य अथवा श्रीधरस्वामी पाद के संबन्धमें
उनका कहीं भी ऐसा स्पष्ट कथन नहीं है । विशेषतः
उन्होंने किसी भी दूसरे सम्प्रदायके शिष्य-उपशिष्य
सबका सिद्धान्त ग्रहण नहीं किया है । श्रीरामानुजा-
चार्यके अनेक शिष्य-प्रशिष्य थे, परन्तु जीव गोस्वामी
ने उनका कहीं भी नामोल्लेख नहीं किया है । श्रीधर
स्वामीके भी अनेक शिष्य थे, परन्तु जीव गोस्वामीने
उनका भी कहीं पर नामोल्लेख नहीं किया है । निम्बा-
र्काचार्यके नामोल्लेखकी तो बात ही अलग रहे, उनके
अस्तित्वका गंध भी इनके ग्रन्थोंमें कहीं भी नहीं
पाया जाता ।

श्रीगौडीय वैष्णव-सम्प्रदायकी श्रीरामानुजके
विचारोंके साथ अनेक विभिन्नताएँ हैं तथा महाप्रभु-
जाने रामानुजके श्रीसम्प्रदायको ग्रहण नहीं किया है
अथवा वे ऐसा कर भी नहीं सकते—इसे हम आगे

❀ (क) बरहमपुर, हरिभक्ति-प्रदायिनी-सभा द्वारा राधारमण यंत्रसे श्रीराम-नारायण विद्यारत्न द्वारा १२८४
बंगालमें प्रकाशित—तत्त्वसन्दर्भः, २८ अनुच्छेद ।

(ख) खागदा, मुर्शिदाबादसे श्रीरामदेव मिश्र द्वारा १३१० बंगालमें प्रकाशित तत्त्वसंदर्भ, २८ अनुच्छेद,
पृष्ठ ११-७२ ।

दिखलावेंगे। श्रीजीव गोस्वामीने श्रीधर स्वामीके अनेकानेक विचारोंको स्वीकार किया है, परन्तु उनके सम्प्रदायको ग्रहण नहीं किया है। इसके अतिरिक्त हमारा कथन यह है कि विद्याविनोद महाशयके 'वाद' ग्रंथका तात्पर्य गौड़ीय-सम्प्रदायको एक ऐसे स्वतंत्र सम्प्रदायके रूपमें खड़ा करना है, जो किसी भी संप्रदायके आश्रित न हो। अतएव श्रीजीव गोस्वामीने श्रीरामानुजके श्रीसम्प्रदायको अथवा श्रीधर-स्वामीके सम्प्रदायको या निम्बादित्यके सनकादि सम्प्रदायको अपना सम्प्रदाय नहीं स्वीकार किया है—ऐसा विद्याविनोद महाशय भी स्वीकार करते हैं*। अतः इस विषयमें कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। अब प्रश्न तो यह है कि श्रीजीव गोस्वामीने श्रीब्रह्मा-माध्व-सम्प्रदायको अपने सम्प्रदायका मूल स्रोत—उद्गम माना है या नहीं? हमारा कहना है कि श्रीमन्महाप्रभुजी, श्री, रुद्र, और सनक—इन तीनों संप्रदायोंमेंसे किसी के भी अन्तर्भूत नहीं हैं—यह सम्पूर्ण सत्य है। साथ ही यह भी प्रुव सत्य है कि श्रीमन्महाप्रभुजीने अपने सम्प्रदायको माध्व-संप्रदाय के अन्तर्गत माना है। हम इस प्रसंगमें विद्याविनोद महाशयकी सारी युक्तियोंका खंडन कर उपरोक्त कथनकी सत्यता प्रमाण करेंगे।

श्रीजीवगोस्वामीचरणके 'तत्त्वसन्दर्भ'का २८वाँ अनुच्छेद जो पहले उद्धृत किया गया है, और उसके नीचे उसके तात्पर्यका अनुवाद भी दिया गया है, उससे यह प्रमाणित होता है कि गौड़ीय-सम्प्रदाय माध्व सम्प्रदायके अन्तर्भूत है। फिर भी इसका विस्तृत विवे-

चन होनेसे यह विषय और भी अधिक स्पष्ट हो जायगा और विद्याविनोद महाशयकी भूल भी पकड़ी जायगी।

विद्याविनोद महाशयने अपने 'अचिन्त्यभेदाभेदवाद' ग्रंथमें गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायके माध्व-सम्प्रदायके अन्तर्भूत होनेके विषयमें जो प्रधान-प्रधान युक्तियाँ दी हैं, उनमें से एक प्रधान युक्ति यह है कि—'श्रीजीवपादने तत्त्व-सन्दर्भमें तत्त्ववाद गुरु श्रीमध्वाचार्यके मतको आधुनिक, प्रचुर-प्रचालित वैष्णव-मत-विशेष दक्षिण आदि देशोंमें विख्यात बतलाकर श्रीमध्वाचार्यके शिष्य-प्रशिष्योंमेंसे विजयध्वज, व्यास-तीर्थ, आदि वेद-वेदार्थविद् महान् विद्वान् आचार्योंके नामोंका उल्लेख किये हैं। यहाँ मध्वाचार्यको 'तत्त्व-वादगुरु' एवं उनके मतको 'बहुल प्रचारित वैष्णव-मत-विशेष' कहनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि माध्वमत जीवगोस्वामीका अपना निजस्व मत नहीं है।'×

ऊपरमें तीन आपत्तियाँ उठायी गयी हैं—(क) माध्व-मत एक बहुल प्रचारित वैष्णव मत-विशेष है। (ख) वह दक्षिण देशोंमें विख्यात है। (ग) मध्वाचार्य तत्त्ववादके गुरु हैं। नीचे हम 'बहुल प्रचारित वैष्णव-मत विशेष' वाक्यकी सार्थकताके सम्बन्धमें विचार कर रहे हैं :—

(क) प्रचुर-प्रचारित वैष्णव मत-विशेष

श्रीजीव गोस्वामीपादके 'वैष्णव मत विशेष'-इस कथनको विद्याविनोद महाशयने तुच्छ या व्यंग-वचन समझ लिया है, क्योंकि जहाँ पर बहुतसे मत

* (क) श्रीगौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदाय श्रीगौरसुन्दरद्वारा प्रवृत्त एक स्वतंत्र सम्प्रदाय है।

—(अचिन्त्यभेदाभेदवाद पृष्ठ २४० की ३री-४थी पंक्ति)

(ख) उपरोक्त कथनका अनुमोदन करते हुए डॉ० हृदयेश गोस्वामी, वेदान्त शास्त्री महोदयने लिखा है—'यह सम्प्रदाय (गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय) माध्व या अन्य किसी भी सम्प्रदायमें निविष्ट नहीं है—बल्कि एक स्वतंत्र सम्प्रदाय है।'

—(गौड़ीय मिशनद्वारा प्रकाशित विविध ग्रन्थोंके सम्बन्धमें सनीषिचुन्द और संवाद पत्रोंके अभिमत—पृष्ठ १५ पंक्ति ५-७)

× अचिन्त्यभेदाभेदवाद, तेरहवाँ प्रसङ्ग, पृष्ठ २४३ पंक्ति-३ ७

विद्यमान हों, वहाँ उन्हीं मतोंके समान किसी एक दूसरे मतको जब लक्ष्य किया जाता है, तब उस मतको 'मत-विशेष' कहा जाता है। तात्पर्य यह कि मत-विशेष कहनेसे निर्दिष्टमतका कोई गुरुत्व अथवा श्रेष्ठत्व नहीं है—यही प्रमाणित होता है। उन्ही प्रकार से वाद-ग्रन्थके लेखकने माध्वमतको तुच्छ अथवा दूसरे-दूसरे वैष्णव मतोंके समान एक दूसरा मत-विशेष मान करके ही लिखा है—'ऐसा कहनेसे वह मत अपना निजस्व मत नहीं है—यह प्रतीत होता है।' क्योंकि सभी लोग अपने मतके ऊपर गुरुत्व आरोप करते हैं। हमारा कथन यह है कि यदि जीव गोस्वामीका माध्वमतको एक तुच्छ अथवा साधारण मत कहना ही अभिप्राय होता, तो वे वैष्णव-मत-विशेषके पूर्व आधुनिक (?) और प्रचुर प्रचारित-ये सब विशेषण क्यों प्रयोग करते? यहाँ प्रचुर प्रचारित वाक्याकी सार्थकता क्या है? 'आधुनिक, 'प्रचुर-प्रचारित' वाक्य 'वैष्णव मतवाद' विशेषके विशेषण रूपमें व्यवहृत हुआ है; अतः यह प्रयोग तुच्छ अथवा साधारण वैष्णवमतके अर्थोंमें नहीं हुआ है। दूसरी बात, जीव गोस्वामीने केवल प्रचारित न कहकर प्रचुर-प्रचारित भी कहा है।

श्रीजीवपादने माध्व-सम्प्रदायको अत्यन्त गौरव की दृष्टिसे देखा है इसीलिये ही उन्होंने 'प्रचुर-प्रचारित'—शब्दका प्रयोग किया है। केवल यही नहीं, वह मत-विशेष अर्थात् माध्वमत ही गौडीय-सम्प्रदाय का मत-विशेष है—जीव गोस्वामीका यही वक्तव्य है।

यदि मध्वाचार्यके मतके साथ श्रीजीवपादका कोई सम्बन्ध नहीं होता अथवा विरोध होता, तो वे माध्व-मतके लिये प्रचुर-प्रचारित' वाक्यका प्रयोग नहीं

किये होते। यह स्मरण रखने योग्य है कि विद्याविनोद महाशयने द्वेष-वशतः मध्वाचार्यके प्रचुर-प्रचारित शुद्धद्वैत या विशुद्ध भेदवादके साथ जीव गोस्वामीके विचारोंका झूठ-मूठ ही विरोध दिखलानेके लिये भर-पूर चेष्टा की है। हम नीचे उनमेंसे दो-एक मन्त-व्योंको उद्धृत कर रहे हैं—

(१) अद्वैततत्त्व ही श्रीमद्भागवतका प्रतिपाद्य विषय है। श्रीमद्भागवत द्वैत या भेद प्रतिपादक शास्त्र नहीं है। (क)

(२) श्रीजीवगोस्वामीने सब जगद् 'एकमेवाद्वितीयम्' तत्त्वकी स्थापना की है। उनका तत्त्व एक के सिवा दो नहीं है। (ख)

(३) जीव और प्रकृतिको तत्त्व माननेसे अद्वैतता की हानि होती है। (ग)

(४) श्रीजीव गोस्वामीने जीव और ईश्वरका अत्यन्त भेद स्वीकार नहीं किया है। (घ)

(५) श्रीजीव गोस्वामीचरणने स्पष्ट शब्दोंमें श्री-मध्वाचार्यके भेदवादका खण्डन कर अपने अचिन्त्य-भेदाभेद सिद्धान्तका स्थापन किया है। (ङ)

(६) श्रीजीव गोस्वामी चरणने जीव और ब्रह्म को पृथक्-पृथक् दो तत्त्व या वस्तुएँ स्वीकार नहीं की हैं। (च)

(७) श्रीजीव गोस्वामीने श्रीमध्वाचार्यकी तरह जीव और ईश्वरको पृथक् पृथक् दो नित्य-सिद्ध-तत्त्व नहीं माना है। अतः श्रीमध्वाचार्यने जिस प्रकार ईश्वरके साथ जीवका तत्त्वतः अत्यन्त भेद स्वीकार किया है, श्रीजीव गोस्वामीने वैसा अत्यन्त भेद स्वीकार नहीं किया है। (छ)

(क)	अचिन्त्यभेद भेदवादकीभूमिका, पृष्ठ ४, पंक्ति १-२।
(ख)	" " का १४ वीं प्रसंग उपसंहार, पृष्ठ २७१, पंक्ति १-२।
(ग)	" " " " " " " १२-१३।
(घ)	" " " " " " " २७३ " २-४।
(ङ)	" " " " " " " १३-१५।
(च)	" " " " " " " १२-१६।
(छ)	" " " " " " " २७४ " १८-२२।

वास्तवमें जीव गोस्वामीजीने कही भी माध्वमत का विरोध अथवा खण्डन नहीं किया है। उपरोक्त सातों मन्तव्य विद्याविनोदके अपने मनगढ़न्त विचार मात्र हैं। श्रीजीवगोस्वामीके ग्रन्थोंमें कहीं भी कोई ऐसी बात नहीं, जिससे उपरोक्त सात अथवा उनमेंसे एक भी विचारकी पुष्टि होती हो। उक्त सात मन्तव्योंके अतिरिक्त उन्होंने और भी दूसरी जगह निर्लज्जकी तरह श्रीजीव-गोस्वामीको मध्वविरोधी अद्वैतवादी प्रमाणित करनेके लिये व्यर्थका प्रयास किया है। वे स्वयं अद्वैतवादी हैं; अतः उन्हें श्रीमध्वके अतिरिक्त वैष्णवमात्रको अद्वैतवादी कहनेमें जरा भी संकोच नहीं हुआ है। अद्वैतवादी या अद्वैतवादी शंकराचार्यने अपनी स्वकपोलकल्पित मिथ्यापूर्ण धारणा की पुष्टिके लिये

अपने गुरु तकको 'अनवगत'-मूर्ख कह डालनेमें तनिक भी आगा-पीछा नहीं किया है*। अद्वैतवादी मात्र ही अपने गुरुको भ्रान्त मानते हैं। अतः सुन्दरानन्दने अद्वैतवादी शंकर-सम्प्रदायमें प्रवेशकर परम्परागत हम प्रकारकी गुर्वावज्ञा करके कोई आश्चर्यजनक कार्य नहीं किया है। यह कार्य उनके जैसे भ्रान्त व्यक्तिके पक्षमें ठीक ही हुआ है। 'कामुकाः कामिनीमयं पश्यन्ति'—न्यायानुसार स्वयं अद्वैतवादी होनेके कारण यदि वे सबको ही अद्वैतवादी देखते हैं, तो इसमें आश्चर्यकी बात ही क्या है? हम उनके द्वारा रचित त्रिशूलोंके अन्यतम 'गौड़ीयार तीन ठाकुर' नामक ग्रन्थसे भी कतिपय उदाहरण उपस्थित करते हैं—

(१) श्रीरामानुजाचार्य आदि २ प्रधान आचार्य

* तस्माद्देवाचार्याद् ब्रह्मात्मज्ञानाभ्यासिः कथमाचार्योऽज्ञो वा स्यात् । यद्यज्ञो न ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानमुपदेष्टुं शक्नुयात् । अथ विज्ञः तदा ब्रह्मात्मज्ञानेन ब्रह्मैव भवति । ततः अज्ञानं तात्कार्यदेहद्वयनिवृत्तेः । तदा देहादिसंबन्धाभावात्, तु न शिष्यादिशानं ह्युपपद्यते । 'अथानवगत ब्रह्मात्मभावं स्यात्' । तस्माद्देहादि-संबन्धोऽज्ञीकत्त्वो-भ्युपेतव्यः ।

—(२१ नं०—नन्दकुमार चौधुरी द्वितीय खेन कलकत्तासे श्रीशरत्चन्द्र चक्रवर्ती द्वारा प्रकाशित शंकर प्रंभावज्ञीके अन्तर्गत अज्ञानबोधिनी, ६ वीं अनुच्छेद, पृष्ठ १४६)

आचार्य शंकर और उनके शिष्योंमें परस्पर जो कथनोपकथन हुआ था, जिसे शंकराचार्यने स्वयं 'अज्ञानबोधिनी' ग्रन्थमें लिपिबद्ध किया है, उसका तात्पर्य यह है—(ब्रह्मज्ञान अथवा श्रेयः पथ लाभ करना नितांत आवश्यक है) अतः आचार्यके निकट ब्रह्मात्म-ज्ञान प्राप्त करना परम कर्तव्य है। किन्तु प्रश्न यह है कि आचार्यको अज्ञ माना जाय या विज्ञ? यदि अज्ञ माने जाते हैं, तो वे ब्रह्मात्म-ज्ञानका उपदेश करनेमें असमर्थ सिद्ध होते हैं। और यदि विज्ञ माने जाते हैं, तो वे ब्रह्मज्ञान द्वारा ब्रह्मत्वको प्राप्त हो चुके हैं—ऐसा भी मानना पड़ेगा। अतः उनका अज्ञान अवश्य ही नष्ट हो चुका है। साथ ही अज्ञानके कार्य स्थूल और सूक्ष्म शरीरोंकी अनुभूति भी नष्ट हो चुकी है। ऐसी दृष्टामें उनका शरीरसे तनिक भी सम्बन्ध नहीं हो सकता है। अतएव वे शिष्यको अज्ञानाद्धत, अविद्याच्छुद्ध, बद्ध मान कर उसे उपदेश करनेमें असमर्थ हैं। अर्थात् एकको शिष्य और दूसरेको गुरु, तिस पर भी अविद्याग्रस्त—ऐसा भेद-दर्शन ब्रह्मज्ञ स्वत्तिको संभव नहीं। फिर द्वैतज्ञानके अभावमें कौन किसको उपदेश देगा। इसीलिये इस विषयकी मीमांसा यह है कि गुरु या आचार्य ब्रह्मात्म-ज्ञानसे रहित अज्ञ ही माने जायेंगे। ऐसे 'अनवगत' अज्ञ गुरु ही शिष्यको उपदेश करनेमें समर्थ हैं; क्योंकि ब्रह्मज्ञानरहित आचार्यका ही शरीर-सम्बन्ध माना जा सकता है। ऐसे अज्ञ आचार्य ही द्वितीय व्यक्ति—शिष्यको उपदेश करते हैं। अतः शंकरके मतानुसार यदि गुरु मूर्ख या अज्ञ न हों तो उनको गुरुके रूपमें वरण किया जाना असंभव है।

† सुन्दरानन्दने 'गौड़ीयार तीन ठाकुर', 'अचित्तभेदाभेदवाद' और 'गौड़ीय दर्शनेर इतिहास' नामक तीन पुस्तकें लिखकर जगज्जाल पैदा किया है। इन तीन पुस्तकों द्वारा श्रीमन्महाप्रभुजी और श्रीरूपगोस्वामीकी ज्ञातीमें

(एकमात्र मध्वाचार्यको छोड़ कर) — मभी अद्वैतवादी हैं ।

(२) श्रीचैतन्यदेवके अनुगत गोस्वामियोंने भी अचिन्त्य द्वैत + अद्वैत सिद्धान्तकी स्थापना की है ।

(३) एकमात्र शंकर सम्प्रदायके व्यक्ति ही उपरोक्त अद्वैतवादी वैष्णव आचार्योंको (क) एवं समस्त वैष्णव सम्प्रदायोंको द्वैतवादी बताते हैं । उनकी यह धारणा सम्पूर्ण भ्रान्त प्रतीत होती है ।

(४) श्रीजीव गोस्वामीने शुद्धद्वैतवादी भी मध्वकी तरह जीव और जगत्को पृथक्-पृथक् तत्त्व नहीं प्रतिपादन किया है । (ख)

अतः हम विशेष जोरके साथ कहते हैं कि श्रीचैतन्त महाप्रभुके विशेषतः श्रीजीवगोस्वामीके चरणोंमें भी भीषण अपराध करके हो विद्याविनोद महाशयने समस्त वैष्णव आचार्योंको एवं उनके सुप्रतिष्ठित सम्प्रदायोंको अद्वैतवादी ठहराया है । यह गुरुद्रोहिता का ही फल है । हरि-गुरु-वैष्णवोंके चरणोंमें अपराध करनेसे ही अद्वैतवादकी तरफ झुकाव होता है, प्रवेश होता है और अंतमें आसुरिक गति प्राप्त होती है ।

प्रसंगवश अन्य विषयकी समालोचना होनेपर भी यह विषय विशेष रूपसे जानने योग्य है । जैसा भी हो श्रीजीव गोस्वामी द्वारा रचित तत्त्व-सन्दर्भके उक्त अनुच्छेदसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्रीजीव गोस्वामीचरणने श्रीमध्वाचार्य एवं उनके शिष्य-प्रशिष्य आचार्योंके सिद्धान्तोंका अवलम्बन करके ही अचिन्त्यभेदाभेदमूलक श्रीभङ्गावतके अर्थ-विशेषका प्रकाश किया है ।

“प्रचुर-प्रचारित वैष्णव मत-विशेषाणां” — वाक्य का ‘विशेषाणां’ — पद बहुवचनमें व्यवहृत हुआ है । सत्यानन्द गोस्वामी, रामनारायण विद्यारत्न आदि किसीने भी बहुवचनांत पद होनेपर भी इस पदका अर्थ बहुवचनात्मक — ‘अनेक मत विशेष’ नहीं किया है । यहाँ मत विशेषके ऊपर श्रीजीवगोस्वामी की गौरव-बुद्धि होनेके कारण उनका मध्व-सिद्धान्तके प्रति अत्यधिक सम्मान सूचित होता है । ‘प्रचुर-प्रचारित’ शब्द जिस गौरव-बुद्धिको सूचित करता है, बहुवचनान्त ‘विशेषाणां’ पद उसे और भी अधिक दृढ़ कर देता है । (क्रमशः)

—ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमन्नितप्रज्ञान केशव महाराज

शूल बिद्ध किया गया है । ये तीनों पुस्तकें ही शूल या त्रिशूल हैं । इनके द्वारा विद्युद्ध गौड़ीय वैष्णव सिद्धान्तोंकी हरया की गयी है । हरि-गुरु-वैष्णवोंकी हरयाके विषयवत जीवसे उक्त त्रिशूल का निर्माण हुआ है ।

—(श्रीगौड़ीय पत्रिका वर्ष ८, संख्या १२, पृष्ठ ४६२)

(क) श्रीरामानुजाचार्य, श्रीविष्णुस्वामी, श्रीनिम्बार्क, श्रीबल्लभाचार्य एवं श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुजीके अनुगत गोस्वामीवर्ग ।

(ख) १३९० बंगालमें गौड़ीय मिशन द्वारा प्रकाशित सुन्दरानन्द विद्याविनोद कृत ‘गौड़ीयार तीन ठाकुर,’ ६म मधुरी, पृष्ठ ४४० में ।

जैव-धर्म

[पूर्व प्रकाशित संख्या ११ के पृष्ठ २६४ से आगे]

मजनाथ—‘आपने पहले बतलाया है कि चिजगत नित्य है, साथ ही जीव भी नित्य हैं। यदि यह बात ठीक है, तो नित्य वस्तुकी सृष्टि अथवा उद्भव या प्राकट्य कैसे संभव है? यदि वे किसी समय प्रकट होते हैं, तो इसका तात्पर्य यह होता है कि प्रकट होने से पूर्व वे अप्रकट थे; फिर उनकी नित्यता कैसे मानी जा सकती है?’

बाबाजी—‘इस जड़ जगत्में तुम जिस देश और कालका अनुभव कर रहे हो, चित् जगत्के देश और काल इससे सर्वथा विलक्षण हैं। जड़ीय-काल तीन भागोंमें विभक्त हैं—भूत, वर्तमान, और भविष्यत्। किन्तु चित् जगत्में केवल एक अखण्ड वर्तमान काल होता है। चित्-जगत्की प्रत्येक घटना नित्य वर्तमान होती है।

हम जड़-जगत्में जो कुछ भी कहते हैं या वर्णन करते हैं, वह सब कुछ जड़ देश और जड़ कालके अधीन होता है। इसलिये जब हम ऐसा करते हैं कि ‘जीव उत्पन्न हुए,’ ‘जीवकी सृष्टि हुई,’ ‘चित् जगत् प्रकट हुआ,’ ‘जीवके स्वरूप-गठनमें मायाका कार्य नहीं है,’—इत्यादि, तब हमारी भाषाके ऊपर, हमारे वाक्योंके ऊपर जड़ीय कालका प्रभाव हुआ करता है। हमारी बद्धावस्थामें ऐसा होना अनिवार्य है। इसलिये अज्ञात जीव एवं समस्त चित् वस्तुओंके वर्णनमें मायिक कालका प्रभाव दूर नहीं किया जा सकता। उसमें भूत, वर्तमान और भविष्यत् कालका भाव आ ही जाता है। अतः चित् जगत्के वर्णनोंका तात्पर्य अनुभव करनेके समय शुद्ध विचार परायण व्यक्ति नित्य वर्तमान कालका प्रयोग अनुभव कर लिया करते हैं। बाबा! इस विषयमें जरा सावधान

रहना। वाक्योंकी अनिवार्य हेयताका परित्याग कर चिदनुभव ही करना।

जीव नित्य कृष्ण-दास है। कृष्ण-दास ही उसका नित्य स्वरूप है। जीव अपने इसी नित्य स्वरूपको भूल कर मायाके द्वारा बंधा हुआ है—ऐसा समस्त वैष्णवजन कहते हैं; परन्तु सभी जानते हैं कि जीव नित्य वस्तु होकर भी दो प्रकारके होते हैं। एक नित्य-मुक्त और दूसरा नित्य-बद्ध। इस विषयमें मानव-बुद्धि प्रमादके वशीभूत होनेके कारण ही ऐसा कहा जाता है। परन्तु धीरे व्यक्ति चित्-समाधिके द्वारा अवाकून ‘मत्स्यका अनुभव’ करते हैं। हमारी बाणी मायिक दोषोंसे युक्त होती है; इसलिये हम जो कुछ भी बोलेंगे, उसमें मायिक दोष रहेगा ही; किन्तु बेटा! तुम इस विषयमें सर्वदा निर्मल सत्य अनुभव करनेका प्रयत्न करना। इस विषयमें तर्क तनिक भी सहायता नहीं देता। अचिन्त्य भावोंके सम्बन्धमें तर्कको नियुक्त करना व्यर्थ है। मैं जानता हूँ कि तुम इन भावोंको अभी इतना शीघ्र हृदयङ्गम न कर सकोगे। तुम्हारे हृदयमें ज्यों-ज्यों चिद् अनशीलन बढ़ता जायगा, त्यों-त्यों अधिक रूपमें चिन्मय भावोंकी उपलब्धि करते जाओगे अर्थात् चिन्मय भाव-समूह तुम्हारे पवित्र अन्तःकरण पर स्वतः उदित होने लगेंगे। तुम्हारा शरीर जड़मय है, तुम्हारे शरीरकी समस्त क्रियाएँ जड़मय हैं, परन्तु वास्तवमें तुम जड़मय नहीं—आगु-चैतन्य पदार्थ हो। तुम अपने आपको जितना ही अधिक जान सकोगे, अपने स्वरूपको मायिक जगत्से उतना ही अधिक श्रेष्ठ तत्त्व अनुभव कर सकोगे। मेरे बतला देने पर भी तुम इसकी उपलब्धि नहीं कर सकोगे अथवा तुम इसे सुनकर भी प्राप्त नहीं कर सकोगे। हरिनामका अधिकसे अधिक

अनुशीलन करो। ऐसा करते-करते तुम्हारे हृदयमें चिन्मय भाव-समूह स्वतः उदित होने लगेंगे। तुम चिन्मय भावोंको जितना ही अधिक रूपमें उदय कराओगे, चित्-जगत्की प्रतीति भी तुम्हें उतनी ही अधिक होगी। मन और बाणी—ये दोनों जड़-सम्बन्धसे उत्पन्न होते हैं। अतः वे अधिक प्रयत्न करने पर भी चिद्-वस्तुका अनुभव नहीं कर पाते। वेरका कथन है—

‘यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। (क)

(तै० ब्र० २।६)

मेरा उपदेश यह है, कि तुम इस विषयमें किसीसे सिद्धान्त न पूछना, अपने आप अनुभव करनेका प्रयत्न करना। मैंने इसका आभास मात्र दिया है।’

ब्रजनाथ—‘आपने बतलाया है कि जीव ज्वलन्त-अग्निकी चिनगारी-स्वरूप ऋथवा सूर्यकी किरणगत परमाणु-स्थानीय तत्त्व है। तो इसमें जीव-शक्तिका क्या कार्य है?’

बाबाजी—‘कृष्ण—ज्वलन्त अग्नि या सूर्य-स्वरूप स्व-प्रकाश-तत्त्व है। ज्वलन्त अग्निकी जितनी दूर तक अपनी सीमा होती है उसके बीचका सब कुछ सम्पूर्ण चिद् व्यापार होता है; उसके बहिर्मण्डलमें सूर्यकी किरणें फैली हुई होती हैं। किरण स्वरूप-शक्तिका अणुकार्य है। उस अणुकार्यमें किरण-समूह चित् सूर्यके परमाणु है। जीव-वही परमाणु-स्थानीय तत्त्व है। स्वरूप-शक्ति मण्डलवर्ती-जगतकी प्रकटयित्रो है; बहिर्मण्डलकी क्रिया—चित् शक्तिकी अणु-अंशरूपी जीवशक्तिकी क्रिया है। अतएव जीव सम्बन्धी क्रियाएँ जीवशक्ति ही होती हैं। ‘परास्य शक्ति विविधैव श्रूयते’ (श्वे० उ० ६।८) (ख) के अनुसार परा शक्ति-स्वरूप चित्-शक्ति ही अपने मण्डलसे बाहर निकल कर जीव शक्तिके रूपमें चिन्मण्डल और माया-मण्डलके बीच—तटभूमिके ऊपर चित् सूर्यके किरण-परमाणुरूप अनन्त नित्य जीवोंको प्रकट करती है।’

ब्रजनाथ—‘ज्वलन्त अग्नि या सूर्य और स्फुलिङ्ग या परिमाणु—यह सब जड़ पदार्थ हैं। चित् तत्त्वके विषयमें इन जड़ पदार्थोंकी तुलनाका प्रयोग क्यों किया गया है?’

बाबाजी—‘मैंने पहले ही कहा है कि जड़-वाक्यों द्वारा चित्-तत्त्व के सम्बन्धमें जो कुछ भी कहा जाता है, उसमें जड़-मल अवश्य अवश्य स्पर्श करेगा। परन्तु दूसरा उपाय ही क्या है, बाध्य होकर ऐसा उदाहरण देना पड़ता है। इसीलिये तत्त्ववेत्ता पुरुष चिद्-वस्तुको अग्नि या सूर्यसे तुलना देकर उस विषयको समझानेकी चेष्टा करते हैं। वास्तवमें कृष्ण सूर्यसे बहुतही भेष्ट वस्तु है। कृष्णका चिन्मण्डल भी सूर्यके तेजोमण्डलसे अत्यन्त भेष्ट है एवं कृष्णकी किरण (जीवशक्ति) तथा किरणगत-परमाणु सूर्यकी किरणों और किरणगत परमाणुओंसे अतिशय भेष्ट है। किन्तु ऐसा होने पर भी अनेक विषयोंमें सादृश्य लक्ष्य करके ही इन उदाहरणोंका प्रयोग किया गया है। उदाहरण केवल प्रादेशिक गुणोंको ही व्यक्त करते हैं, सर्वदेशिक गुणोंको नहीं। सूर्यका स्व-प्रकाश-सौन्दर्य गुण तथा उनकी किरणोंका पर-प्रकाश गुण—ये दोनों गुण चित् तत्त्वके स्व-प्रकाशत्व और पर-प्रकाशत्व गुणोंको लक्ष्य करते हैं। किन्तु सूर्यके दाह-काव और जड़त्व आदि गुण चिद् वस्तुमें उदाहरणके स्थल नहीं हैं। ‘यह दूध जल जैसा है’—ऐसा कहनेसे जलका तारक्य गुण ही प्रदृश्य करने योग्य है। नहीं तो उस दूधमें जलके सारे गुण पाये जानेसे वह दूध, दूध न होकर जल नहीं हो पड़ेगा? अतएव उदाहरण किसी वस्तुके प्रादेशिक भावोंको ही व्यक्त करते हैं, सर्वदेशीय भावोंकी तुलनाके क्षेत्र नहीं होते।’

ब्रजनाथ—‘चित्-सूर्यकी चिन्मय किरणें और उनमें स्थित चित् परमाणु-समूह चित्-सूर्यसे अभिन्न होकर भी नित्य भिन्न हैं—ये दोनों बातें एकही साथ कैसे मग्न हो सकती हैं?’

(क) वाणी मनके साथ जिसे पानेमें असमर्थ होकर लौट आती है।

(ख) उस अचिन्मय शक्तिका नाम पराशक्ति है। यह स्वाभाविकी शक्ति एक होकर भी ज्ञान, बल और क्रिया भेदसे विविध प्रकार की है।

बाबाजी—'जड़ जगत्में किसी वस्तुसे दूसरी वस्तु उत्पन्न होने पर उत्पन्न हुई वस्तु उस मूल वस्तु से या तो बिलकुल ही भिन्न हो पड़ती है और नहीं तो उससे मिली हुई अभिन्न होती है। यह जड़ धर्मका स्वभाव है। पत्नीके अण्डा देने पर अण्डा पत्नीसे अलग हो पड़ता है। मनुष्यके नख और केश जितने दिन तक काटे नहीं जाँय, तब तक मनुष्य-शरीर से पैदा होकर भी शरीरके साथ मिले हुए होते हैं। परन्तु चिद् वस्तुका धर्म कुछ बिलक्षण होता है। चित्-सूर्यसे जो कुछ निकला है, वह सब कुछ युगपत् भेदाभेद व्यापार है; जैसे किरण और किरण-परमाणु सूर्यसे निकलकर भी सूर्यसे अलग नहीं है, वसी प्रकार कृष्णकी किरण (जीवशक्ति) और किरण-परमाणु-रूप जीव-समूह कृष्ण-सूर्यसे उत्पन्न होकर भी कृष्णसे अपृथक होते हैं और अपृथक होकर भी पृथक् पृथक् जीव स्वतंत्र इच्छा-कण लाभ कर कृष्णसे नित्य पृथक हैं। इसीलिये जीवका कृष्णसे अभेद और भेद-यह तत्त्व नित्य सिद्ध है। यही चिद् व्यापारका बिलक्षण परिचय है। जड़के सम्बन्धमें पण्डितजन एक प्रादेशिक उदाहरण देते हैं। वह यह कि सोनेका एक बड़ा टुकड़ा लीजिये। उससे छोटा सा टुकड़ा काट कर कंगन बनाया गया। अब सोनाकी दृष्टिसे तो कंगनका सोनेके टुकड़ेसे कोई भेद नहीं है अर्थात् दोनों अभिन्न हैं, परन्तु कङ्कनकी दृष्टिसे दोनों भिन्न हैं। परन्तु यह उदाहरण चित् तत्त्वके सम्बन्धमें सम्पूर्ण रूपसे ठीक नहीं बैठता। बल्कि एक देशीय उदाहरण है। चित् तत्त्वकी दृष्टिसे ईश्वर और जीवमें अभेद है और अवस्था तथा परिमाणकी दृष्टिसे दोनोंमें नित्य भेद है। ईश्वर पूर्ण चित् है, जीव अणुचित है; ईश्वर विभु है, जीव लुद्र है। कुछ लोग इस विषयमें घटा-काश और महाकाशका उदाहरण देते हैं। परन्तु यह उदाहरण चित्-तत्त्वके सम्बन्धमें सर्वथा असंगत है।'

ब्रजनाथ—'यदि चित् और जड़—ये दोनों भिन्न

भिन्न जातीय वस्तु हैं, तो चिद् वस्तुके लिये किसी जड़ वस्तुका उदाहरणक्यों कर सङ्गत हो सकता है?'

बाबाजी—'जड़ वस्तुमें जैसे पृथक् जातियाँ होती हैं, जिस जातिको नैशयिक पण्डित 'नित्य' मानते हैं, चित् और जड़के बीच वैसी कोई जाति-भेद नहीं है। मैंने पहले ही कहा है कि 'चित्' ही एकमात्र वस्तु है और जड़ उन्नीहा विकार है। विकृत वस्तुका शुद्ध वस्तुके साथ अनेक विषयोंमें सादृश्य रहता है। विकृत-वस्तु शुद्ध-वस्तुसे भिन्न होती है, परन्तु अनेक विषयोंमें उसका सादृश्य लोप नहीं हो पाता है। जैसे जल और ओला (हिम-उपल)। ओला जलका विकार है। विकार होनेके कारण वह जलसे भिन्न हो पड़ता है। परन्तु फिर भी शीतलता आदि कई गुणोंका दोनों-में सादृश्य होता है। गर्म जल और ठण्डा जलमें शीतलता आदि गुणोंका सादृश्य तो नहीं रहता, परन्तु तारल्य गुणका सादृश्य होता है। अतएव विकृत पदार्थमें शुद्ध पदार्थका थोड़ा-बहुत सादृश्य अवश्य ही पाया जाता है। इस सिद्धान्तके आधार पर जड़ोय उदाहरणोंके द्वारा चित् जगत्के सम्बन्धमें कुछ-कुछ अनुशीलन किया जा सकता है। पुनः 'अरुन्धती-दर्शन' न्यायका अवलम्बन करनेसे जड़ तत्त्वके स्थूल और विपर्यस्त तत्त्वलोचनसे चित् तत्त्वके सूक्ष्म धर्मकी उपलब्धि की जा सकती है। कृष्णलीला—सम्पूर्ण रूपसे चित् लीला है। उसमें तनिक भी जड़ोय भाव नहीं होता। श्रीमद्भागवतमें वर्णित ब्रजलीला सम्पूर्ण अप्राकृत है। परन्तु वही वर्णन जब श्रोतृ-मण्डलीको पढ़कर सुनाया जाता है, तब श्रोताओंके अधिकार भेदसे उसका भिन्न-भिन्न प्रकारका फल होता है। जड़ विषयोंके भोगमें आसक्त श्रोता जड़ विषयालङ्कारोंका अवलम्बन करके साधारण नायक-नायिकाकी कथा सुनता है। मध्यमाधिकारी श्रोता 'अरुन्धती-दर्शन'-न्याय+ का सहारा लेकर जड़ोय वर्णनसे मिलते-जुलते चिद्-बिलासका दर्शन

+ 'अरुन्धती-दर्शन'-न्याय—अरुन्धती एक बहुत ही छोटा तारा है, जो सप्तमिषण्डलस्थ बशिष्ठके पास पड़ता है। उसे दर्शन करनेके लिये जिस प्रकारसे पहले स्थूल दृष्टिसे एक बड़े तारेके सहारे उसका स्थान निर्धारण किया

करता है और उत्तम अधिकारी उस लीला वर्णनको भवण कर जड़से परे शुद्ध चिद्विलास-रसमें निमग्न हो पड़ता है। इन सब पूर्वोक्त न्यायोंका अवलम्बन करनेके सिवा जीवोंको आप्रकृत तत्त्वके सम्बन्धमें शिक्षा देनेके लिये दूसरा उपाय ही क्या है? जिस विषयमें बाणी मूक हो पड़ती है, जिस विषयमें मनकी गति रुक जाती है, उस विषयको बद्धजीव किस प्रकार समझ सकता है? इस विषयमें सादृश्ययुक्त वशाहरणों और 'अरुन्धती-दर्शन' न्यायके अतिरिक्त कोई भी दूसरा उपाय नहीं दीख पड़ता। जड़ पदार्थोंमें भेद और अभेद एक साथ नहीं दिखलाई पड़ता। उनमें या तो केवल भेद और नहीं तो केवल अभेद ही हो सकता है। किन्तु परम तत्त्वके सम्बन्धमें ऐसी बात नहीं है। कृष्णके साथ कृष्णकी जीवशक्तिका और जीवशक्ति-परिणत जीव-समूहका युगपत् भेद और अभेद—दोनों अवश्य ही स्वीकार करने पड़ेगे। यह भेदा-भेद तत्त्व मानव बुद्धिकी सीमासे परे होनेके कारण 'अचिन्त्य' कहा जाता है।

ब्रजनाथ—'ईश्वर और जीवमें क्या भेद है?'

बाबाजी—'पहले ईश्वर और जीवका अभेद समझ लो, पीछे उनका नित्यभेद दिखलाऊँगा। ईश्वर-ज्ञान-स्वरूप, ज्ञाता-स्वरूप, भोक्तृ-स्वरूप, मन्तृ-स्वरूप, स्व-प्रकाश और पर-प्रकाश तत्त्व हैं। वे समस्त क्षेत्रज्ञ और इच्छामय पुरुष हैं। जीव भी ज्ञान-स्वरूप, ज्ञाता-स्वरूप, भोक्तृ-स्वरूप, मन्तृ-स्वरूप, स्व-प्रकाश और पर-प्रकाश तत्त्व है। वह भी क्षेत्रज्ञ और इच्छामय होता है। इस दृष्टिसे दोनोंमें अभेद है। परन्तु ईश्वर पूर्ण-शक्तिमान हैं। वे पूर्णशक्तिके प्रभावसे उपरोक्त समस्त गुणोंके आधार हैं, वे समस्त गुण ईश्वरमें

पूर्ण-पूर्ण मात्रामें होते हैं। अणु-चित जीवमें वे समस्त गुण होते हैं, किन्तु अणु-अणु मात्रामें। पूर्णता और अणुताके भेदसे ईश्वर और जीवके स्वभाव और स्वरूपका नित्य भेद वर्तमान रहने पर भी उपरोक्त हेतु ईश्वर और जीवमें भेदका अभाव है। आत्मशक्तिकी पूर्णताके कारण ईश्वर—स्वरूप शक्ति, जीव-शक्ति और मायाशक्तिके अधीश्वर हैं; शक्ति उनकी दासी है, वे शक्तिके प्रभु हैं; उनकी इच्छासे शक्ति क्रियावती है—यही ईश्वरका स्वरूप है। जीव में ईश्वरके गुण वृद्ध-वृद्ध रूपमें होने पर भी जीव शक्तिके वशमें होता है। 'दशमूल'—में माया-शब्दका तात्पर्य केवल जड़-मायासे ही नहीं है, अपितु स्वरूप शक्तिसे भी है। 'मीयते अनया इति माया'(क) इस व्युत्पत्तिके अनुसार माया उस शाक्तिको कहते हैं, जो चित, अचित और जीव—इन तीनों जगत्तोंमें कृष्णका परिचय प्रकाश करती है। अतएव 'माया'-शब्दसे यहाँ केवल जड़-शक्तिका ही नहीं, बल्कि स्वरूप-शक्तिका भी बोध होता है; कृष्ण मायाके अधीश्वर है और जीव मायाके अधीन होता है। अतः श्वेताश्वतर उपनिषद्में कहते हैं—

अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् ।

तस्मिन्चान्यो मायया सन्निरुद्धः ॥

मन्यान्तु 'प्रकृतिं' विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम् ।

सस्यायवयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥ (ख)

(१ पे० ४।१।१०)

उपरोक्त मंत्रमें 'मायी'—शब्दसे मायाधीश कृष्ण को और प्रकृतिसे सम्पूर्ण शक्तिको लक्ष्य किया गया है। यह महान गुण और स्वभाव ईश्वरका विशेष

जाता है और फिर सूचन दृष्टिसे ध्यानपूर्वक देखनेसे उसका दर्शन होता है, उसी प्रकार मन्त्रमाधिकारी वैष्णवजन अप्राकृत राज्यकी बातें जड़ जगत्की भाषा और इन्द्रियोंके सहारे ग्रहण करके भी भक्ति-नेत्रमें प्रेम रूप अञ्जन लगाकर उसके अप्राकृतत्वका दर्शन और अनुभव करते हैं।

(क) इससे माया—तौला जा सकता है, इसलिये इसे माया कहते हैं।

(ख) मायाके अधीश्वर परमेश्वरने जिससे सम्पूर्ण जगत्की रचा है, उसीके द्वारा जीव-समूह भी प्रपंचमें भलीभाँति बँधा हुआ है। मायाकी ही प्रकृति समझना चाहिए एवं मायी अर्थात् मायाधीशकी महेश्वर समझना चाहिए। उसी महेश्वरके अङ्ग समूहसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हो रहा है।

धर्म है, जो जीवात्मामें नहीं होता। जीव मुक्त होने पर भी इस महान गुणको प्राप्त नहीं कर सकता है। 'जगत् व्यापार वज्रकुं- ब्रह्मसूत्रके इस सिद्धान्त वचन द्वारा जीवका ईश्वरसे नित्यभेद स्थापन किया गया है—इस विचारका समर्थन सारी विद्वन्मण्डली करती है। यह नित्यभेद काल्पनिक नहीं—नित्य सिद्ध है। यह भेद जीवकी किसी भी अवस्थामें लोप नहीं होता। अतएव जीव कृष्णका नित्यदास है। इस वाक्यको महावाक्य समझना।

ब्रजनाथ—'ईश्वरसे जीवका यदि नित्य-भेद ही सिद्ध हुआ तो अभेद कब माना जायगा? तो क्या निर्वाण नामक एक अवस्था है—स्वीकार करना होगा?'

बाबाजी—'बिलकुल नहीं। "किसी भी अवस्था में कृष्णके साथ जीवका अभेद नहीं है।"

ब्रजनाथ—'फिर आपने अचिन्त्यभेदाभेद क्यों कहा है?'

बाबाजी—'कृष्णके साथ जीवका चिद्धर्मकी दृष्टिसे अभेद है और स्वरूपतः दोनोंमें नित्य भेद है। नित्य अभेद होनेपर भी भेद प्रतीति ही नित्य है। अभेद स्वरूपकी सिद्धि होने पर भी उसका अवस्थागत कोई परिचय नहीं है। अवस्थागत परिचयकी जगह नित्यभेद-प्रकाश ही प्रबल होता है अर्थात् जहाँ नित्य अभेद और नित्य भेद दोनों होता है, वहाँ भेद प्रतीति ही प्रबल होती है। जैसे एक गृहको यदि अदेवदत्त और स-देवदत्त दोनों ही कहा जाय तो

किसी विचारसे अ-देवदत्तत्व होने पर भी स-देवदत्तत्वका ही नित्य परिचय रहेगा। जड़ जगत्में और भी एक उदाहरण देता हूँ। आकाश एक जड़ द्रव्य है। यदि उस आकाशका भी कुछ आधार हो, तो उस आधारके रहने पर भी जैसे केवल आकाशका ही परिचय मिलता है, उसी प्रकार अभेद सत्तामें जिस नित्य भेदका परिचय पाया जाता है वही उस वस्तुका एकमात्र परिचय है।'

ब्रजनाथ—'ऐसा होनेसे जीवका नित्य स्वभाव और भी स्पष्ट करके बतलानेकी कृपा करें।'

बाबाजी—'जीव अणु-चैतन्य, ज्ञान-गुणसे युक्त, 'अहं'-शब्द वाच्य, भोक्ता, मन्ता, और बोद्धा है। जीवका एक नित्य-स्वरूप है। वह नित्य-स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होता है। जिस प्रकार स्थूल शरीरमें हस्त, पद, नासिका, बर्ण, नेत्र आदि अङ्ग सुन्दर रूपसे अपने-अपने स्थानपर न्यस्त होकर एक सुन्दर स्वरूपको प्रकाश करते हैं, उसी प्रकारसे चित्त-कणमय शरीरमें भी चित्तकणमय अङ्ग-प्रत्यगोंसे गठित सर्वाङ्ग सुन्दर एक चित्तकण स्वरूप प्रकाशित होता है—वही स्वरूप जीवका नित्य-स्वरूप है। माया बद्ध होनेपर उसी नित्य-स्वरूपको ऊपरसे और भी दो औपाधिक शरीर आच्छादित करते हैं। औपाधिक शरीरोंमेंसे एक का नाम लिङ्ग शरीर है और दूसरेका स्थूल शरीर। चित्तकण-स्वरूप शरीरके ऊपर लिङ्ग शरीरकी उपाधि है। यह लिङ्ग शरीर जीवोंकी बद्ध-दशा प्रारम्भ होनेके समयसे लेकर मुक्त होने तक

ॐ निखिल चित् और अचित्त जगत्की सृष्टि, स्थिति और उसका नियमन रूप जगत् व्यापार केवलमात्र ब्रह्मका ही कार्य है—दूसरेका नहीं। इस जगत् व्यापार कार्यको छोड़ कर दूसरे-दूसरे समस्त कार्य मुक्त जीवोंके लिये संभव हैं। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै. उ. ३।१) [जिससे समस्त भूत-समुदाय उत्पन्न होता है, जीवित रहता है तथा प्रलयकालमें जिसमें प्रवेश कर जाता है और विलीन हो जाता है] आदि वाक्य-समूह ब्रह्मके सम्बन्धमें ही कहे गये हैं। यहाँ तक कि ये सब वचन अनेक तोड़ मरोड़ कर भी जीवके सम्बन्धमें लागू नहीं किये जा सकते हैं। क्योंकि यहाँ पर मुक्त जीवका कोई प्रसङ्ग ही नहीं है। शास्त्रोंमें केवल मात्र भगवान्को ही सृष्टि, स्थिति और प्रलयका कर्ता बतलाया गया है, मुक्त जीवको नहीं। यदि जीवको भी इन कार्योंका कर्ता माना जाता है, तो बहु-ईश्वरवादका दोष उपस्थित हो जाता है। अतः जगत् व्यापारमें मुक्त जीवका अधिकार नहीं है—वही सिद्धान्त सङ्गल है।

अपरिहार्य होता है। जन्मान्तरके समय स्थूल-शरीर का परिवर्तन होता है, परन्तु लिङ्ग शरीरका परिवर्तन नहीं होता। लिङ्ग शरीर एक स्थूल शरीरको छोड़ते समय उस शरीरकी समस्त कर्म-वासनाओंको साथ लेकर दूसरे शरीरमें प्रवेश करता है। वैदिक-पञ्चाग्नि विद्याके द्वारा जीवका देहान्तर और अवस्थान्तर सिद्ध होता है। छान्दोग्य उपनिषद् और ब्रह्म-सूत्रमें चिताग्नि, वृष्ट्याग्नि, भोजनाग्नि, रेतोद्वनाग्नि आदि पञ्चाग्निकी प्रणालीका वर्णन किया गया है। पिछले जन्मोंके संस्कारोंके अनुसार नये शरीरको प्राप्त हुए जीवका स्वभाव बनता है और उस स्वभाव के अनुसार वर्ण प्राप्त करता है। वर्णाश्रममें प्रवेश कर पुनः कर्म करने लगता है और मृत्यु होने पर पुनः वैसी ही गतिको प्राप्त होता है। नित्य-स्वरूपका पहला आवरण लिङ्ग-शरीर है और दूसरा-स्थूल शरीर है।

ब्रजनाथ—'नित्य-शरीर और लिङ्ग-शरीरमें क्या अन्तर होता है ?'

बाबाजी—'नित्य-शरीर—चित्कणमय, निर्दोष, और 'अहं' पदार्थका यथार्थ वाच्य वस्तु है। लिङ्ग-शरीर—जड़ सम्बन्धसे पैदा होता है, जो मन, बुद्धि और अहंकार—इन तीन विकारोंसे गठित होता है।'

ब्रजनाथ—'मन, बुद्धि और अहंकार—ये क्या प्राकृत वस्तु हैं ? यदि ये प्राकृत हैं, तो इनमें ज्ञान और क्रिया कैसे सिद्ध है ?'

बाबाजी—

'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ (क)

अपरेयमितस्त्वन्धां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ (ख)

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाण्यित्युपधारय ।

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ (ग)

(गीता ७ ४-६)

—गीतोपनिषद्के इन श्लोकोंमें चित्शक्तिमान भगवान्को दो प्रकारकी प्रकृतिका वर्णन किया गया है। एकका नाम परा प्रकृति और दूसरीका नाम अपरा-प्रकृति है। परा प्रकृतिको जीव-शक्ति और अपरा शक्तिको जड़ा या माया-शक्ति भी करते हैं। जीव-शक्ति—चित् कणमय होती है। इसलिए इसका नाम परा अर्थत् श्रेष्ठा शक्ति है। मायाशक्ति जड़ होती है; इसलिए इसका नाम अपरा (श्रेष्ठ नहीं) है। अपरा शक्तिसे जीव बिलकुल पृथक् तत्त्व है। अपरा शक्तिमें आठ स्थूल तत्त्व होते हैं—पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश—यह पंचमहाभूत एवं मन, बुद्धि और अहंकार। जड़ा-प्रकृतिके अन्तर्गत मन, बुद्धि और अहंकार—तीनों जड़द्रव्य विशेष हैं। इनका जो ज्ञानाकार दिखलायी पड़ता है, वह ज्ञान चित्त-स्वरूप न होकर जड़-स्वरूप होता है। 'मन' जड़ विषयोंसे जो सब प्रतिच्छाया ग्रहण करता है उसके ऊपर वह ज्ञान-काण्डरूप एक व्यापार स्थापन करता है; यह ज्ञानकाण्डरूप व्यापार जड़मूलक होता है, चित्तमूलक नहीं। इस ज्ञानकाण्डके ऊपर जो वृत्ति रुद्र-असद्का विवेचन करती है, उसे बुद्धि कहते हैं। यह बुद्धि भी जड़मूलक होती है। उक्त ज्ञानको अंगीकार कर जिस 'अहं' भावका प्रादुर्भाव

(क) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश—ये पाँच स्थूल-जड़ और मन, बुद्धि, अहंकार—ये तीन सूक्ष्म-जड़, सब मिलाकर आठ प्रकारकी यह मेरी अपरा या माया प्रकृति है।

(ख) इसके अतिरिक्त मेरी एक तटस्था प्रकृति भी है, जिसे परा प्रकृति भी कहा जा सकता है। वह प्रकृति चैतन्यरूपा और जीवरूपा है। उसीसे समस्त जीव प्रकाशित होकर जड़ जगत्को चैतन्यमय किये हुए हैं। मेरी अन्तरङ्गा शक्ति द्वारा प्रकटित चिञ्जगत् और बहिरङ्गा-शक्तिसे उत्पन्न जड़ जगत्—इन दोनों जगतोंके के लिए उपयोगी होने के कारण जीव-शक्तिको 'तटस्था' शक्ति कहा जाता है।

(ग) चित्-अचित् सम्पूर्ण जड़ और तटस्थ जगत्—इन दो प्रकारकी प्रकृतियोंसे उत्पन्न हुआ है। अतएव भगवत्स्वरूप मैं ही चराचर जगत्की उत्पत्ति और प्रलयका मूल कारण हूँ।

होता है, वह भी जड़-मूलक होता है, चित् मूलक नहीं। ये तीनों मिलकर जीवके जड़-सम्बन्धमूलक द्वितीय स्वरूपको प्रकाश करते हैं। इसी द्वितीय स्वरूपका नाम लिङ्ग-शरीर है। जड़वद् जीवके लिङ्ग-शरीरकी 'अहंता' प्रबल होकर नित्य-स्वरूपकी 'अहंता' को ढक लेती है। नित्य स्वरूपमें चित्-सूर्य (कृष्ण) के सम्बन्धसे जो 'अहंता' उत्पन्न होती है, वही नित्य और शुद्ध अहंता होती है। मुक्तावस्थामें वही अहंकार फिरसे प्रकट होता है। जब तक नित्यशरीर लिङ्ग शरीरसे ढका रहता है, तबतक स्थूल और लिङ्ग शरीर गत जड़ाभिमान ही प्रबल होता है। अतः उस समय तक चित्-सम्बन्धाभिमान लुप्तप्राय होता है। लिङ्ग शरीर सूक्ष्म होता है। इसलिये स्थूल शरीर उसे आच्छादित कर कार्य करता है। स्थूल शरीर द्वारा ढका होनेके कारण स्थूल शरीरगत वर्ण (जाति) आदिका अहंकार उत्पन्न होता है। यद्यपि मन, बुद्धि और अहंकार ये तीनों प्राकृत हैं, फिर भी आत्मवृत्ति का विकार होकर वे ज्ञानका अभिमान करते हैं।

ब्रजनाथ—'मैं समझ गया कि जीवका नित्य-स्वरूप चित्कणमय है और उस स्वरूपमें चित्कणमय अंगोंसे गठित एक सुन्दर शरीर भी है। बद्धावस्थामें वह चित् कणमय सुन्दर शरीर लिङ्ग-शरीरके द्वारा

आच्छादित रहता है। जड़ शरीर द्वारा आच्छादित होनेसे जीव-स्वरूपमें भी जड़-विकार उत्पन्न होता है। अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि—मुक्तावस्था में क्या जीव बिलकुल निर्दोष होता है ?'

बाबाजी—'चित्कण-स्वरूप निर्दोष होने पर भी असम्पूर्ण होता है; क्योंकि अत्यन्त अणु-स्वरूप होनेके कारण उसमें दुर्बलता होती है। उस अवस्थामें केवल मात्र यही दोष दिखलाई पड़ता है कि बलवती माया-शक्तिके संसर्गसे जीवका चित्-स्वरूप लुप्त होने योग्य होता है। श्रीमद्भागवतका कथन है—

येऽन्येऽरविन्दाच्च विमुक्त मानिन-
स्वययस्तभावाद्विशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽ नास्तयुष्मदृढप्रयः ॥ (क)

(श्रीमद्भा० १०।२।३२)

अतएव मुक्तजीव जितना भी ऊँचा पद प्राप्त क्यों न कर ले, उसके गठनकी असम्पूर्णता सब समय उनके साथ लगी रहेगी। इसीका नाम जीव तत्त्व है; इसलिये वेदमें यह कहा गया है कि ईश्वर मायाधीश हैं और जीव अपनी सब दशाओंमें मायाके अधीन होने योग्य बना रहता है। (क्रमशः)

* पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त *

श्रीकेदार-बट्टीजीकी परिक्रमाका आयोजन चल रहा है।

यात्री तैयार हो जाँय। विस्तृत विवरणके लिये श्रीभागवत-पत्रिका कार्यालय
को लिखें।

(क) हे कमलनयन ! आपके भक्तोंके अतिरिक्त ज्ञानी, योगी और तपस्वी आदि जो लोग अपनेकी झूठ-मूठका मुक्त मानते हैं, वास्तवमें उनकी बुद्धि बिलकुल ही शुद्ध नहीं होती। क्योंकि उनमें भक्तिका अभाव होता है। वे अत्यन्त कठोर क्लेश सह कर नाना प्रकारके कष्टपूर्ण साधनोंके द्वारा कल्पित परम पद प्राप्त होने पर भी आपके चरणकमलोंका अनादर करनेके कारण अत्यन्त नीचे गिर जाते हैं।

शरणागति

सिद्ध-देहमें—अनुकूल

[ॐ विष्णुपाद श्रीमन्नितिविनोद ठाकुर]

गोद्रुम धामे भजन-अनुकूले ।
माथुर -- श्रीनन्दीश्वर - समतुले ॥
तैंहि माह सुरभि-कुञ्ज-कुटीरे ।
बैठवु हाम सुरतटिनी-तीरे ॥
गौर भक्त-प्रियवेश दधाना ।
तिलक तुलसीमाला-शोभमाना ॥
चम्पक, वकुल, कदम्ब तमाल ।
रोपत निरमिव कुञ्ज विशाल ॥
माधवी मालती उठावुं ताहे ।
छाया मण्डप करवुं तैंहि माहे ॥
रोपवुं तत्र कुसुमवन राजि ।
यूधि, जात, मल्ली विराजव साजि ॥
मंचे वसाओवुं तुलसी-महारानी ।
कीर्त्तन-सङ्ग तैंहि राखव आनि ॥
बैष्णव-सह गाओवु नाम ।
जय प्रोद्रुम जय गौरका नाम ॥
भक्ति विनोद भक्ति-अनुकूल ।
जय कुञ्ज, मुञ्ज सुरनदी कूल ॥

दयानिधि जाहि सनेह करै ॐ

दयानिधि जाहि सनेह करै ।
होत पुनीत जदपि अति पापी, बिगरे काज सरै ॥
अमित उछाह प्रभुको ध्यावै मंगल गान करै ।
अति कठोर पापान बिदारै जल में सिला तरै ॥
मूक सुवकता बनिकै बोलै, पंगु पहार चढ़ै ।
'शचीदास' केहि भाँति बखानै उपमा नाँहि सरै ॥

—सुशीलचन्द्र त्रिपाठी, एम. ए., साहित्यरत्न ।

प्रह्लाद महाराजके उपदेश

आजके भौतिकवादके युगमें मनुष्य समाज सांसारिक भोग-विलासको ही सब कुछ मान बैठा है और उसे पानेके लिये उसने अपनी सारी शक्ति लगा दी है। उसकी दृष्टिमें सांसारिक सुखोंके अतिरिक्त पारमार्थिक कल्याणका कोई अस्तित्व नहीं है, बल्कि आकाश-कुसुमकी तरह वह निरर्थक कक्षामात्र है। यही कारण है कि इतना सब करने पर भी वह अपने को बिनाशके अंतिम क्षोर पर खड़ा देख पाता है। इतनी शिक्षा (?), तरह-तरहके निर्माण-कार्य, वैज्ञानिक अनुसंधान, औद्योगिक विकाश, समाज सुधार आदि के बावजूद भी सब जगह चरित्रहीनता, दुर्नीति, नैतिकपतन, भ्रष्टाचार, गरीबी, आन्तरिक फूट और सत्ता एवं अधिकारके लिये परस्पर संघर्षका बोलबाला है। आज चोटीके नेता इससे बेहद परेशान हैं।

यदि कोई इन सांसारिक भोग सुखोंको अनित्य और दुःखका कारण मान कर, इससे विरक्त होकर बचपनसे ही सत्संगमें भगवद्भजन करना चाहे, तो लोग उसके पीछे पड़ जाते हैं। घरवाले विपरीत हो जाते हैं, बन्धु-बान्धव परेशान हो उठते हैं, समाज बौखला उठता है—'अरे मस्तिष्क क्या बिगड़ गया है? बचपन हरिभजनका उपयुक्त समय नहीं है; जब बुढ़ापा घर दबाए, जब सारी इन्द्रियाँ शिथिल हो पड़ें, तब बैठ कर आरामसे हरिभजन करना। अभी तो स्वर्गादपि गरीयसी जननी और जन्मभूमिकी, पिताकी, समाजकी सेवा करो। भगवान् क्या कहीं दूर थोड़े ही हैं? वे तो दरिद्रके रूपमें, रोगीके रूपमें अनाथ और अपाहिजाँके रूपमें तुम्हरे समाने खड़े हैं, इनकी सेवा करो।'।

किन्तु आश्चर्य है, उपरोक्त प्रकारके उपदेशक लोग अपने पथ पर चल कर केवल दुःख ही दुःख पाकर भी दूसरोंको पुनः वैसा ही करनेके लिये परामर्श

देते हैं। हम आशा करते हैं, प्रह्लाद महाराजके उपदेशों पर लोग विचार करेंगे और इनके अनुसार चल कर यथार्थ कल्याणके पथ पर अग्रसर होंगे।

दैत्यराज हिरण्यकशिपुके चार पुत्र थे। प्रह्लाद सबसे छोटे थे। प्रह्लाद बचपनसे ही भगवान्के प्रेमी भक्त थे। उन्हें खेल-कूद अच्छा नहीं लगता था। वे या तो साधियोंसे अलग किसी निर्जन स्थानमें अकेले बैठकर अथवा अपने समस्त साधियोंको साथ लेकर भगवन्नामका कीर्तन करते-करते शरीर तककी सुध-सुध तक भूल जाते। इतने बड़े सम्राटका पुत्र होकर भी इनको अपनी कुलीनता, धन-ऐश्वर्य और बड़प्पन आदिका अभिमान छू तक नहीं गया था। यों तो प्रह्लादका जन्म असुर कुलमें हुआ था, परन्तु उनमें आसुरी गुणोंका लेश भी नहीं था।

'हिरण्य + कशिपु'का अर्थ सोना + बिछौना होता है। हिरण्यकशिपु दिनरात कनक और कामिनीके संग्रह और उनके भोगमें व्यस्त रहता था। वह चाहता था कि उसके पुत्र भी उसीके समान संसारी बनें। किन्तु जिसके हृदयमें परिपूर्ण नित्य आनन्दकी घनमूर्ति भगवान् श्रीविष्णु विराजमान हों, वे प्रह्लाद भला, नश्वर और आपात् रमणीय भोगोंके जालमें कैसे फँस सकते थे।

जब प्रह्लाद पाँच वर्षके हुए, तब दैत्यराजने उनको शएड और अमर्ककी पाठशालामें पढ़नेके लिये बैठा दिया। धीरे-धीरे उन्हें अर्थनीति, राजनीति आदिकी शिक्षा दी जाने लगी। प्रह्लादकी इन विषयोंमें प्रारंभसे ही रुचि नहीं थी। फिर भी अनिच्छाके साथ पढ़ लिया करते थे। किन्तु उनका चित्त-चंचरीक सब समय भगवान्के चरण-कमलोंके सौन्दर्य-सुधाका पान करनेमें तन्मय रहता था।

एक दिन गुरुजी गृहस्थीके कार्यसे कहीं बाहर चले गये। प्रह्लादने अच्छा मौका देखा। उन्होंने अपने समवयस्क सारे दैत्य बालकोंको अपने पास बलाया और करुणासे द्रवित होकर बड़े प्रेमके साथ उनसे कहना आरम्भ किया—

प्यारे मित्रों! इस संसारमें मनुष्य जन्म बड़ा ही दुर्लभ है। पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, लता आदि अस्सी लाख योनियोंके बाद मनुष्य जन्म मिलता है। फिर मनुष्य-योनि भी चार लाख प्रकारकी होती है। जिसमें समस्त अंगोंसे पूर्ण सुन्दर शरीर आदिसे युक्त मनुष्य जन्म पाना बड़ा ही कठिन है। इसके द्वारा चरम प्रयोजन रूप भगवान्की प्राप्ति हो सकती है— जो दूसरे-दूसरे जन्मोंमें संभव नहीं है। परन्तु कुछ ठीक नहीं, कब मृत्यु हो जाय। इसलिये बुढ़ापे या जवानीके भरोसे न रह कर बचपनसे ही भगवान्को प्राप्त करानेवाले साधनोंमें तत्परतासे लग जाना चाहिए।

भाइयों! मनुष्य जन्ममें [भगवान् विष्णुके चरणोंकी शरण लेना—उनके चरणोंकी सेवा प्राप्त करना ही संसारमें सबसे श्रेष्ठ और मङ्गलमय कार्य है। क्योंकि भगवान् विष्णु ही समस्त प्राणियोंकी आत्मा हैं, परमबन्धु हैं, प्रियतम हैं और सबकुछ हैं। दूसरी-दूसरी समस्त चीजें नश्वर हैं।

यदि तुम यह सोचो कि अभी तो जीवनका प्रारम्भ है, इस समय सांसारिक सुखोंके लिये प्रयत्न करना ही हमें उचित है। अभीसे यह सब क्यों छोड़ दूँ? तो इसका उत्तर यह है कि सांसारिक सुख भोगके लिये यत्न करना ही व्यर्थ है। क्योंकि जैसे दुख बिना बुलाये बाधा देने पर भी प्रारब्धके अनुसार आ ही जाते हैं, उसी प्रकार सुखके सम्बन्धमें भी जानों। भाइयो! आहार, निद्रा, भय और मैथुन आदि सांसारिक सुख-भोग तो कुत्ता, शृगाल और शूकर आदि समस्त जन्मोंमें भी सुलभ हैं। फिर इसके लिये इतनी हाय! हाय! क्यों? जहाँ जायेंगे, वही ये सुख-भोग प्राप्त हो जायेंगे। मनुष्य जन्म

पाकर इसको सार्थक बनाना ही जीवमात्रका प्रधान कार्य है।

अतः सांसारिक-सुखके लिये प्रयत्न करना— नाटक परमायु और शक्ति गँवाना है। जो इनमें फँस जाते हैं, उन्हें परम कल्याण स्वरूप भगवान्के चरण कमलोंकी सेवा प्राप्त नहीं होती। इसलिये सुदुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर रोग, शोक और मृत्यु प्राप्त होनेके पहले ही आत्म-कल्याणके लिये प्रयत्न करना ही मनुष्यका परम कर्त्तव्य है।

मनुष्यकी आयु सौ वर्षकी होती है। जो जितेन्द्रिय नहीं होते, उनकी आधी आयु तो यों ही चली जाती है। क्योंकि वे रातका समय स्त्रीसङ्ग और घोर निद्रामें गँवा देते हैं। बाल्य, कौमार, और पौगण्ड अवस्था खेल-कूद और पढ़ने-सीखनेमें ही बीत जाती है। इस प्रकार बीस वर्ष यों ही चला जाता है। पुनः आयुका अंतिम बीस वर्ष बुढ़ापेमें चला जाता है; क्योंकि उस समय तक सारी इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, कुछ करने-धरनेकी शक्ति नहीं होती। अब बिलकुल थोड़ी सी आयु बच रहती है। बची हुई आयुमें यौवनका नशा है, स्त्री, पुत्र, घर, द्वार आदिकी प्रबल आसक्ति है, उनके पालन-पोषण और रक्षणके लिये धन संप्रहकी चेष्टा है—इत्यादि कभी भी पूरी न होने वाली बड़ी बड़ी आशाएँ हैं, जिनमें फँस कर मनुष्यको भले-बुरेका—कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका ज्ञान ही नहीं रहता है। अतएव वह थोड़ी सी बची हुई आयु भी यों ही बीत जाती है।

यदि यह कहो कि पहले कुछ दिनोंतक सांसारिक भोगोंको भोग लूँ और पीछे आत्म-कल्याणके लिये प्रयत्न कर लूँगा, तो तुम्हारी यह आशा दुराशामात्र है। क्योंकि संसारमें एकबार फँस जानेपर उससे छुटकारा मिलना सहज नहीं होता। ऐसा कौन मनुष्य है, जो माता, पिता, भाई, बन्धु और घर-गृहस्थीके स्नेह-पाशमें बँधे हुए अपने आपको उससे छुड़ानेका साहस कर सके।

और जिस धनके लिये लोग चोर बन कर चोरी

करते हैं, व्यापारी-बनकर अपने प्यारे-प्राणों तककी बाजी लगाकर विषद् भरे समुद्र, आकाश, नदी, पर्वत और गम्भीर जंगलोंको पारकर व्यापार करते हैं और लाखों प्राणियोंको ध्वंस करनेवाले युद्धके मैदानमें कूद पड़ते हैं—उसकी तृष्णा भला, कौन त्याग सकता है ?

जो अपनी प्रयत्नमाके एकान्त सहवास पर, उसकी प्रेमभरी बातों पर अपनेको निछावर कर चुका है, जो माता, पिता, भाई, बन्धु और मित्रोंके स्नेह-पाश में आवद्ध हो चुका है और जो नन्हें-नन्हें संतानोंकी तोतली बोली पर मुग्ध हो चुका है, वह भला, निर्मोही बन कर उनको छोड़ कैसे सकता है ?

नवालिंग संतानोंकी असमर्थता और बालिंग संतानोंकी कार्य-कुशलता देख कर, अपने ससुरालमें गयी हुई प्रिय पुत्रियोंकी याद कर, असहाय भाई-बहन और रुग्ण एवं शोक-सन्तप्त वृद्ध माता-पिताकी दीन अवस्थाका स्मरण कर, सगे-सम्बन्धियोंका स्नेह याद कर, नाना प्रकारकी सुन्दरसे सुन्दर बहुमूल्य सामग्रियोंसे सजे-सजाये पैतृक गृहको, अपने हाथसे तैयार किये गये मकानों, बगीचों, सरोवरोंको, परम्परासे चले आ रहे जीविका-निर्वाहके साधनों तथा पालित पशुओं और सेवकोंको स्मरण कर, उन्हें छोड़नेमें कौन समर्थ होगा ? जैसे रेशमका कीड़ा अपना घर बनाते-बनाते उससे बाहर निकलनेके लिये दर-बाजा तक नहीं रखता है, अपने कठिन जालमें आपही फँसकर प्राणोंको दे बैठता है; उसी प्रकार जननेन्द्रिय और रसनेन्द्रियके सुखोंमें फँसा हुआ वह अजितेन्द्रिय गृहस्थ व्यक्ति उनसे कभी भी विरक्त नहीं होता और इस प्रकार अपनी पारमार्थिक हत्या कर लेता है।

गृहस्थ मनुष्य कुटुम्बको अपना मानकर उसमें

इतना रम जाता है कि उसीके पालन-पोषणमें अपनी सारी अमूल्य आयु गँवा देता है। इन आपात् रमणीय सुखोंके पीछे वह इतना पागल हो उठता है कि उसे उन कर्मोंका यथार्थ-स्वरूप देख नहीं पड़ता। यदि उसको इन कर्मोंमें कुछ सुख मिले तो भी एक बात थी, वह जहाँ भी जाता है, सब जगह दैहिक, दैविक और भौतिक तापोंसे दग्ध होता है, फिर भी अपनेको दुखी नहीं मानता। उसे तनिक भी वैराग्य नहीं उत्पन्न होता। कितनी विडम्बना है। वह दूसरेका धन अपहरण करनेके लौकिक और पारलौकिक दोषों और फतोंको जान कर भी लोभके बशमें होकर परायेका धन अपहरण करता है।

मित्रों! जो इस प्रकार गृहस्थकृत्यमें फँसकर कुटुम्बके भरण-पोषणमें ही लगा रहता है—वह विद्वान् और शास्त्रज्ञ होकर भी अपना और भगवानका यथार्थ स्वरूप नहीं जान पाता है। बल्कि अपने और पारायेका भेद-भाव रखनेके कारण वह अपनेको जन्म-मरणके बंधनमें अधिकतर जकड़ता चला जाता है।

विद्वान् हो, शास्त्रज्ञ हो, महान् दार्शनिक हो, विराट् वैज्ञानिक हो—चाहे कोई भी हो गृहस्थीमें फँसनेसे अपनी आत्माका उद्धार नहीं कर सकता। बल्कि कामिनियोंके हाथोंका बिलौना—क्रीड़ा-मृग बन जाता है एवं अपने पैरोंमें संतानकी वेदी जकड़ लेता है।

इस लिये प्यारे भाइयों! यदि तुमलोग अपना आत्मव्यवस्था चाहते हो, तो तुमलोग विषयासक्त असुरोंका संग परित्याग कर भगवानके प्रिय भक्तोंका संग करो और भगवानके पवित्र चरण-कमलोंकी शरण प्रदण करो।